आधुनिक हिन्दी-गद्य

श्रीनिवास चतुर्वेदी
इन्द्रनाथ मदान

आधुनिक हिन्दी-गद्य

(द्विवेदी जी से लेकर आजतक के प्रमुख गद्य लेखकों
के चुने हुए साहित्यिक लेखों का संग्रह)

(परिष्कृत और परिवर्द्धित संस्करण)

संकलनकर्त्ता तथा संपादक

श्रीनिवास चतुर्वेदी एम. ए.

संस्कृत तथा हिन्दी प्रोफेसर, होल्कर कालिज, इन्दौर

तथा

डा. इन्द्रनाथ मदान एम. ए., पी. एच. डी.

हंसराज महिला कालिज, लाहौर

प्रकाशक

हिन्दी भवन

लाहौर

विषय-सूची

प्रारंभिक शब्द

पद्य के स्थान पर गद्य—

कहा जाता है कि साहित्य एक आईना है जिस में जाति-विशेष के तत्कालीन उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। १६वीं शताब्दी की भारतीय धार्मिक-क्रान्ति का चित्र भक्तशिरोमणि सूर, रामधन तुलसी और प्रभुचरणानुरागिनी मीरा की कविताओं में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। बिहारी और देव की शृंगारी कविता तत्कालीन परिस्थितियों का ही जीता जागता चित्र है, और भूषण की वीर-रस की कविता भी मानो शिवाजी के आन्तरिक भावों का बाह्य रूप ही है। यहाँ तक कि समस्त हिन्दी साहित्य में ही नहीं, वरन् प्राचीन भारतीय साहित्य में जो सांसारिकता के भावों का अभाव दृष्टिगोचर होता है, वह हमारे जीवन में आध्यात्मिकवाद के आधिक्य और सांसारिकता के अभाव को सूचित कर रहा है।

१८ वीं शताब्दी में पाश्चात्य जातियों से हमारा घनिष्ट सपर्क प्रारंभ होता है। कई पाश्चात्य जातियाँ इस समय भारत में अपना राज्यस्थापन का प्रयत्न कर रहीं थीं, उनमें से अंगरेज़ों को ही अधिक सफलता मिली। १९ वीं शताब्दी के अंत तक भारत के राजनीतिक मानचित्र का बहुत-सा भाग लाल रंग से रँगा गया। इस समय से ही पाश्चात्य सांसारिकता के भाव हमारे जातीय जीवन में प्रवेश करने लगे। नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा रेल-तार आदि नूतन सुविधाओं का भारत में प्रचार होने लगा। मुद्रणकला ने इस क्रान्ति में और भी अधिक योग दिया। हमारा साहित्य भी इस प्रभाव से न बच सका। उस में सदियों से चली आती पद्यात्मक प्रवृत्ति का स्थान गद्यात्मक प्रवृत्ति ने लेना प्रारभ किया।

यद्यपि बोलचाल मे हिन्दी गद्य की उत्पत्ति हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ ११वीं शताब्दी में ही माननी चाहिए, परन्तु १८वीं शताब्दी के अंत तक जहाँ हिन्दी पद्य अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था, अनेक कवि अपनी सुललित रचनाओं से उसे अलंकृत कर चुके थे वहाँ हिन्दी साहित्य में कोई भी उल्लेखनीय गद्य-रचना दिखाई नहीं देती। बहुत अनुसंधान के बाद बिठलनाथ-कृत 'श्रृंगार-मडन', गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता', गंगा भाटकृत 'चंदछंदबरणन महिमा', कुछ भ्रष्ट तथा लँचर टीकाएँ और राजस्थानी 'ख्यातें' ही मिलती है। पर वे न के बराबर हैं। हिन्दी गद्य का तारतम्य १९ वीं शताब्दी में उस समय से ही आरंभ हुआ जब कि हिन्दी साहित्य के गद्य-

क्षेत्र में मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र ने पदार्पण किया।

गंगाभाट की 'चंदछंदबरणन महिमा' या ऐसे ही अन्य किसी विरले ग्रन्थ को छोड़कर इन चारों लेखकों से पहले लिखे गए बाकी सब गद्य ग्रन्थों में तत्कालीन पद्य की भाषा—व्रज भाषा या राजस्थानी—का ही आश्रय लिया गया था। पर इन चारों लेखकों ने ही पहले पहल गद्य में दिल्ली तथा मेरठ और उसके समीप की प्रचलित उस खड़ी बोली को अपनाया जो तत्कालीन शिष्ट-समुदाय की पारस्परिक व्यवहार की भाषा हो चली थी, और जो फारसी अरबी आदि विदेशी शब्दों के मिश्रण से, तथा फारसी लिपि में लिखे जाने के अनंतर उर्दू कहलाती थी। अतएव यह मानना पड़ता है कि आधुनिक हिन्दी गद्य की वास्तविक उत्पत्ति उन्नीसवीं शताब्दी में हुई तथा उपरिलिखित चारों लेखक ही उसके प्रारंभिक लेखक थे। इनके कुछ बरस बाद हिन्दी में प्रौढ़ गद्य-लेखकों का ताँता सा बँध जाता है और पद्य के स्थान पर गद्य का प्राबल्य प्रारंभ हो जाता है। फलतः इस एक या डेढ़ शताब्दी में ही उसके पूर्व रूप और आजकल के परिष्कृत रूप में घोर परिवर्त्तन दिखाई देता है। प्रेस और पत्रिकाएँ इस प्रबल परिवर्त्तन में बहुत सहायक हुईं।

गद्य का उत्पत्तिकाल १८५०-१९२७—

इस परिवर्त्तन को ध्यान में रखकर हम हिन्दी गद्य को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहला इन चारों लेखकों से भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पहले तक। यही हिन्दी गद्य की उत्पत्तिकाल है। इस

काल में जहाँ इन चारों लेखकों की गद्य की भाषा परस्पर भिन्न-भिन्न थी वहाँ अन्य किन्हीं प्रमुख दो गद्य-लेखकों की भाषा भी एक साथ न मिलती थी। भारतेंदु हरिश्चन्द्र तक यही गड़बड़ चलती रहती है।

मुंशी सदासुखलाल ने श्रीमद्भागवत का स्वच्छन्द अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया। उनके ग्रन्थ में हिन्दुओं की बोलचाल की उस शिष्ट भाषा का प्रयोग हुआ जो उस समय चारों ओर—पूरबी प्रान्तों में भी—प्रचलित थी। उनकी भाषा में स्थान स्थान पर संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्द भी दिखाई देते हैं, जिन से हिन्दी के भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास मिलता है। जैसे —

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण,नहीं, आरोपित उपाधि है।"

इंशा उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। उन्होंने उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी लिखी जिस को उन्होंने बाहर की बोली (अरबी फारसी आदि) गँवारी (देहाती बोलियाँ) और भाखापन (संस्कृत-मिश्रित हिन्दी)से रहित ठेठ हिन्दी में लिखने का प्रण किया था। यद्यपि वे अन्य सब वस्तुओं से बच गए पर उनकी भाषा में कहीं कहीं फारसी ढंग आ गया है और वह भाषा काव्य-रचना या कल्पनात्मक कहानियों के लिए तो शायद उपयुक्त हो पर व्यवहारोपयोगी नहीं है। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।"

लल्लूलाल ने कृष्णोपासक व्यासों की सी व्रजरंजित तथा विदेशी शब्दों से रहित खड़ी बोली में प्रेमसागर लिखा जिसमें भागवत दशम-स्कन्ध की कथा वर्णन की गई है। इनकी भाषा कृत्रिमता-पूर्ण और

पद्यात्मक थी तथा नित्य के व्यवहार के अनुकूल न थी। उसका नमूना नीचे दिया जाता है।

"इतना कह महादेवजी गिरिजा को साथ ले गंगा के तीर पर जाय नीर में न्हाय न्हिलाय अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने।"

सदलमिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक लिखी। इस ग्रन्थ की भाषा में यद्यपि पूरबी की पुट थी, फिर भी यह व्यवहारोपयोगी थी, और प्रेमसागर की तरह उसमें व्रज-भाषा या काव्यभाषा का आधिक्य न था।

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे।"

इन चारों लेखकों का लेखन-काल (१८५०—१८७०) प्रायः एक ही था। इन में से प्रथम दो ने 'स्वान्तः सुखाय' ही ग्रंथ-रचना की थी, पर पिछले दो अग्रेज़ों के यहाँ नौकर थे, और उन्होंने फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता के अधिकारियों की प्रेरणा से ग्रंथ-रचना की थी। इनमें से मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मिलता है, और वह अधिक व्यवहारोपयोगी भी है। इन दो में भी, मुंशी सदासुख की भाषा अधिक महत्त्व की है, उन्होंने लेखनी भी अन्य तीनों से पहले उठाई थी, अतः उन्हीं को आधुनिक गद्य का प्रधान प्रतिष्ठापक मानना चाहिए।

इन लेखकों के लगभग ६० साल बाद तक हिन्दी का कार्य धर्म-

प्रचारक ईसाइयों के हाथ में रहा। उन्होंने बाइबल का सुबोध और शुद्ध हिन्दी में अनुवाद किया, और बहुत सी भूगोल-इतिहास-विषयक शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। इनकी भाषा प्रायः उर्दू से अछूती थी और कई पुस्तकों की भाषा तो विशुद्ध और पंडिताऊ थी। जैसे——

"इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"

पर उस समय न्यायालयों तथा शासन के अन्य महकमों की भाषा उर्दू तथा लिपि फारसी थी। अतः नवशिक्षित बाबू लोग उर्दू को ही अधिक पंसद कर रहे थे, और उसकी ही अधिक उन्नति होरही थी। केवल धर्मभाव हिन्दी को बचा रहा था। इसी बीच बनारस के राजा शिवप्रासाद तथा आगरे के राजा लक्ष्मणसिंह ने गद्यक्षेत्र में प्रवेश किया। दोनों ही में पर्याप्त हिन्दी-प्रेम था। पर दोनों के विचार सर्वथा विरोधी थे। राजा शिवप्रसाद जब शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर हुए तो उन्होंने हिन्दी के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया, और मुसल्मानों के घोर विरोध के बाद भी स्कूलों में हिन्दी को स्थान दिया गया। पर राजा साहब का प्रेम नागरी लिपि से था, भाषा में वे भी उर्दू शब्द अधिक पसंद करते थे। स्थान स्थान पर उनकी वाक्य-रचना भी फ़ारसी व्याकरण के अनुसार होती थी। उनका कहना था **"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए जो आम-फहम और खास पसंद हो।"**

इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह इन विदेशी शब्दों को इतना अपवित्र समझते थे जितना हरिजनों को दक्षिणी ब्राह्मण। उनका कहना था—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है।"

इस बादविवाद में धर्म-प्रचारक राजा लक्ष्मणसिंह का पक्ष ले रहे थे। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने गुजराती होते हुए भी अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। उनके ग्रन्थों में संस्कृत-मिश्रित शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया। उन्हें 'हिन्दी' नाम से भी चिढ़ थी क्योंकि इस भाषा का यह नाम विदेशियों ने रखा था। वे इसे 'आर्य-भाषा' कहते थे। पंजाब के प्रसिद्ध कथावाचक पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी तथा पंजाब शिक्षाविभाग के इन्स्पेक्टर और ब्रह्मसमाज के उद्योगी कार्यकर्त्ता बाबू नवीनचन्द्र राय भी इस समय के शुद्ध हिन्दी के अच्छे पोषकों में से थे। बंगला जैसी उन्नति पथगामिनी अन्य भारतीय भाषाएँ भी अपनी संस्कृत-शब्द-बहुलता की ओर अपनी बहन हिन्दी का ध्यान आकर्षित कर रहीं थीं। इस बढ़ते द्वंद्व का मेधा-शक्ति-संपन्न भारतेंदु हरिश्चन्द्र भली-भाँति निरीक्षण कर रहे थे। वे हिन्दी की संपत्ति बन गए हुए विदेशी शब्दों को गँवाकर अपनी मातृ-भाषा को निर्धन न करना चाहते थे, और न ही अत्यधिक विदेशी गहने पहना कर उसको कुरूप ही करना चाहते थे। अतएव उन्होंने सोच-विचार कर मध्यम मार्ग का अव-लम्बन किया।

अब तक भाषा में बड़ी गड़बड़ चल रही थी। मुंशी सदासुख-लाल की भाषा व्यावहारिक होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी तो इंशा का वाक्य-विन्यास फारसी ढंग का था। लल्लूलाल की भाषा में ब्रज भाषा का रंग था, तो सदल मिश्र की भाषा में पूरबीपन का। राजा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दू की भरमार थी,तो राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में प्रान्तीयता की पुट थी। अंत में भारतेन्दु गद्य की इस गड़बड़ को दूर कर एक शैली निश्चित करने में सफल हुए। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य-रूप उस भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। अतः वे ही आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। इस प्रकार भारतेन्दु से हिन्दी गद्य का दूसरा काल प्रारंभ होता है, जिसे हम महावीरप्रसाद द्विवेदी के पहले तक मानते हैं। इस काल को हरिश्चंद्र-काल कहा जा सकता है।

हरिश्चन्द्र-काल (१६२७-१६५७)—

इस काल के हिन्दी साहित्य-गगन के पूर्णेन्दु स्वयं भारतेन्दु ही थे। सारा हिन्दी साहित्य उन पर ही आश्रित था। जिस प्रकार उन्होंने गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता,मधुर और स्वच्छ रूप दिया उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर ला खड़ा किया। उसे विविध विषयों तथा नये भावों से अलंकृत किया। बंगाल में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था। पर हिन्दी-साहित्य का अभी इस ओर ध्यान न था। भारतेन्दु ने ही हिन्दी में नाटक-साहित्य की नींव डाली। उनके बनाये १४ नाटक कहे जाते हैं। इन नाटकों द्वारा ही उन्होंने परिष्कृत

गद्य-शैली की स्थापना की और हास्य-रस की जड़ जमाई। हास्य रस पर उनका अधिकार था भी खूब। 'अंधेर-नगरी' प्रहसन उन्होंने एक ही दिन में लिखा था। उनके हास्यरस में व्यंग्य और देश-प्रेम की पुट रहती थी। हिन्दी और हिन्दुस्तान का प्रेम तो उनके प्रत्येक ग्रन्थ में झलकता था।

ग्रन्थ-रचना के अतिरिक्त उन्होंने कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। जिन में 'कविवचन-सुधा' और हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन प्रसिद्ध हैं। कुछ दिन बाद इसी मैगज़ीन का नाम बदल कर उन्होंने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' कर दिया। 'चन्द्रिका' में हरिश्चन्द्र स्वयं तो लिखते ही थे और बहुत से लेखक भी उन्होंने तैयार कर लिए। इस तरह उनके समय में ही लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया। बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास और राधाचरण गोस्वामी ने हिन्दी-साहित्य के इस नूतन विकास में योग दिया। भारतेंदु तो संवत् १९४२ में अस्त हो गया पर उनका यह मडल बहुत दिनों तक साहित्य-निर्माण करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य-प्रबन्ध, नाटक, उपन्यास, आदि इन लेखकों की लेखनी से निकले और बँगला आदि उन्नत भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ। पचासों पत्र-पत्रिकाएँ भी उसी समय में निकलीं। कई गद्य-लेखन-शैलियाँ भी आविष्कृत हुईं। बदरीनारायण चौधरी और गोबिन्द नारायण मिश्र ने सुललित आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया; पर उस शैली से व्यावहारिकता का

नाश हुआ। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट आदि में पर्याप्त सजीवता या जिन्द:दिली थी। उनके लेखों में व्यंग्य के साथ-साथ बिनोद और हास्य की प्रधानता रहती थी। मिश्र जी के लेखों में तो कहीं-कहीं ग्रामीणता की भी पुट पाई जाती है। मुहावरों का दोनों ने ही खूब प्रयोग किया।

इतना होते हुए भी सतर्क पाठक यह देख सकते हैं कि इस काल के कई लेखकों के लेखों में हिन्दी-व्याकरण की घोर उपेक्षा की गई। 'रिषि','इच्छा किया','जात्याभिमान','आशा किया' आदि इन लेखकों के प्रयोग हिन्दी-व्याकरण की अवहेलना के स्पष्ट परि-चायक हैं। बँगला तथा अंग्रेज़ी के तत्कालीन नौसिखिए अनु-वादकों ने और भी गड़बड़ मचा दी। विराम-चिन्हों का तो खूब निरादर हुआ। भारतेन्दु ने भाषा की शैली निश्चित कर दी थी, परन्तु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ सका था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ उस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परन्तु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न होसका।

आवश्यकता थी, इस उच्छृंखलता की बाढ़ को रोकने की। ज़रूरत थी ऐसे चतुर बागवन की, जो झाड़-झंखाड़ को दूर कर इस हिन्दी-उपवन को सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना सके। यह काम आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी के हाथों संपन्न हुआ। 'सरस्वती' के संपादक पद पर आसीन होकर द्विवेदीजी ने लेखकों की भाषा-संबंधी त्रुटियों, निरङ्कुशताओं तथा व्याकरण के व्यतिक्रम

की कड़ी आलोचना करके उनको सतर्क कर दिया। हिन्दी-गद्य के जिस रूप का प्रतिष्ठान मुंशी सदासुखलाल ने किया था, जिसकी शैली का निर्द्धारण और परिमार्जन भारतेन्दु ने किया था, व्याकरण और भाषा की सफाई की दृष्टि से उसका संस्कार करने का श्रेय द्विवेदी जी को ही प्राप्त है। इस तरह द्विवेदी जी से हिन्दी गद्य का तीसरा नया काल प्रारंभ होता है।

आधुनिक हिन्दी गद्य काल (द्विवेदी युगःनवीन युग) १९५७ से प्रारंभ

द्विवेदी युग को दो भागों में बाँटा जाता है। पूर्वार्द्ध में भाषा का रूप स्थिर, व्यवस्थित और परिष्कृत हुआ, तथा उत्तरार्द्ध **(नवीन युग)** में सूक्ष्म मानसिक भावनाओं के प्रकाशन की ओर प्रगति बढ़ी; लेखन-शैली में भावद्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हुआ और भाषा का प्रचार बढ़ा अर्थात् भाषागत परिमार्जन के अतिरिक्त इस काल की प्रधान विशेषताएँ हैं—भाव-प्रदर्शन की प्रौढ़ शैलियों का स्वतंत्र स्वरूप एवं भाषा का व्यापक विस्तार। इस काल में अनेक लेखकों ने कुशलता-पूर्वक विविध विषयों पर कलम उठाई, और उनमें से कई लेखकों को भाषा के सजाने का सौभाग्य अब तक प्राप्त है।

इस काल में सबसे अधिक रचना उपन्यासों की हुइ। इनमें मौलिक और अनूदित दोनों ही सम्मिलित हैं। इस काल के सब से पहले उपन्यास-लेखक देवकीनंदन खत्री हैं, जिनकी प्रसिद्धि ऐयारी और तिलस्म के उपन्यासों से है। इसके बाद जासूसी उपन्यासों का युग आया। इसमें मौलिक और अनूदित दोनों ही तरह के जासूसी

उपन्यास प्रकाशित हुए। बँगला आदि पड़ोसी भाषाएँ इस क्षेत्र में हिन्दी से बहुत अधिक धनी थीं। उनमें बहुत से साहित्यिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। अतः हिन्दी में अब बँगला के उपन्यासों के अनुवाद की झड़ी सी लग गई। देखा-देखी गुजराती, मराठी, आदि से भी कुछ अनुवाद हुए। पर कुछ ही दिन के अनंतर हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचंद जी की रचनाओं ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। ये ही हिन्दी के उच्चकोटि के प्रथम उपन्यास-लेखक कहे जा सकते हैं। अब तक हिन्दी में इनकी टक्कर का उपन्यास-लेखक कोई नहीं हुआ। प्रेमाश्रम, सेवासदन, रंगभूमि, काया-कल्प, गबन, गोदान आदि उनके कई उपन्यास निकल चुके हैं। परन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य ने इन्हें अकाल ही में हमसे छीन लिया। प्रेमचन्द जी के सिवा बाबू जयशंकरप्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, पं० विश्वंभरनाथ कौशिक, श्री जैनेन्द्र, पांडेय बेचन शर्मा उग्र आदि उपन्यास-लेखकों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का श्रेय केवल बाबू वृन्दावनलाल वर्मा को प्राप्त है। इन मौलिक उपन्यास-लेखकों की कृतियों के अतिरिक्त अभी तक हिन्दी में श्री शरच्चन्द्र, श्री रवीन्द्र आदि उच्चकोटि के उपन्यास लेखकों के अनुवादों की पर्याप्त भरमार हो रही है।

उपन्यासों के समान ही हिन्दी में आख्यायिका या गल्प-साहित्य की भी आजकल बाढ़ आ रही है। इन आख्यायिकाओं या गल्पों की उपज बँगला की देखा-देखी ही आरंभ हुई है। पर अब तो इनका आदर बहुत बढ़ गया है। प्रत्येक पत्र या

पत्रिका में इनको विशेष स्थान प्राप्त होता है। कहानियों के क्षेत्र में भी अब तक मुंशी प्रेमचंद जी को ही सब से अधिक आदर प्राप्त हुआ है। उनकी तरह ही इतिवृत्तात्मक या सामाजिक कहानी लिखने वालों में से पं० ज्वालादत्त, पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, श्री चतुरसेन शास्त्री तथा श्री सुदर्शन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कवित्वपूर्ण कहानियों के कारण बाबू जयशंकरप्रसाद को हिन्दी साहित्य में निराला ही स्थान प्राप्त है। राय कृष्णदास, श्री जैनेन्द्र, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त और श्री बेचन शर्मा उग्र भी उच्चकोटि के मालिक कहानी लेखकों में से है।

उच्चकोटि के नाटकों की हिन्दी में अब तक बहुत कमी है। जो कुछ हैं वे प्राय: संस्कृत या बंगला के अनुवाद ही हैं; जिनमें द्विजेन्द्र बाबू के नाटक प्रमुख हैं। मौलिक नाटककारों में सर्वप्रथम स्थान बाबू जयशकरप्रसाद को प्राप्त है। इनके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। पर प्रसादजी के नाटकों में एक बात बहुत खटकती है। वह है उनकी रंगमंच पर खेले जाने की अनुपयुक्तता। प्रसाद जी के अतिरिक्त नवयुग के मौलिक नाटक-लेखकों में पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द तथा श्री हरिकृष्ण प्रेमी के नाम उल्लेखनीय हैं। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों का यद्यपि हिन्दी में अब तक अधिक आदर नहीं हुआ, परन्तु वे उच्चकोटि के कहे जा सकते हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद ने इस काल का प्रारंभ ही समालोचनाओं से किया था। द्विवेदी जी की समालोचनाएँ भाषा की गड़-

बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुई। द्विवेदी जी के समकालीन समालोचकों में मिश्रबंधुओं का स्थान विशेष महत्त्व-पूर्ण है। उनके लिखे 'हिन्दी-नवरत्न' में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ। मिश्रबंधुओं के उपरान्त हिन्दी-कवियों पर तुलनात्मक आलोचना लिखनेवालों में पं० पद्मसिंह शर्मा और प० कृष्ण बिहारी मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा जी की शैली निराली ही है। वह बहुत आकर्षक है, पर साथ ही व्यंगमयी भी है। गंभीर विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ लिखने वालों में पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दरदास अग्रणी हैं। हिन्दी का आलोचना-साहित्य आजकल बहुत बढ़ रहा है।

इस काल के निबंध-लेखकों में भी सर्व-प्रथम नाम आचार्य द्विवेदी जी का ही है। पर संपादन-कार्य में व्यस्त रहने के कारण वे अधिक निबंध न लिख सके। सरदार पूरणसिंह जी ने हिन्दी के तीन-चार ही भावात्मक निबंध लिखे, पर हैं वे उच्चकोटि के। पं० रामचन्द्र शुक्ल विचारात्मक लेख लिखने में अद्वितीय हैं। दार्शनिक निबंध लिखने वालों में लाला कन्नोमल, बाबू गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा बाबू गुलाबराय एम० ए० के नाम उल्लेखनीय हैं। साहित्यिक और अध्ययन-पूर्ण निबन्ध लिखने वालों में बाबू श्यामसुन्दरदास तथा श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अपना विशेष स्थान रखते हैं। स्वामी सत्यदेव, तथा श्री हरिभाऊ उपाध्याय के निबंध जीवन-प्रद कहे जा सकते हैं।

आजकल गद्यकाव्यात्मक विक्षेप शैली के निबंध लिखने की

भी लहर चली है। राय कृष्णदास, श्रीवियोगी हरि, श्री चतुरसेन शास्त्री आदि इस लहर के प्रवर्त्तक हैं।

साहित्य के अन्य अंगों की पूर्त्ति की ओर भी इस युग के प्रौढ़ लेखकों ने ध्यान दिया है। हिंदी साहित्य और भाषा के इतिहास पर पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, प्रो. रामकुमार वर्मा और डा० धीरेंद्र वर्मा आदि कई विद्वानों की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। भाषा विज्ञान पर भी श्री नलिनी मोहन सान्याल, डा० मंगल देव और बाबू श्यामसुन्दर दास के उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। हिंदी में यात्रा-साहित्य की पूर्त्ति का काम स्वामी सत्यदेव तथा बौद्ध-भिक्षु राहुल सांकृत्यायन ने किया है। इन्होंने यूरोप, एशिया, अमेरिका के अपने यात्रा-वृत्तान्त लिखे हैं। बाबू शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' यात्रा-साहित्य की अनूठी पुस्तक है।

इस काल की लेखन-शैली पूर्वकाल से बहुत अधिक परिपक्व हो चुकी है। भाषा के सौष्ठव पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, प्राणिशास्त्र, स्वास्थ्य, चिकित्सा, आदि अन्य अनेक विषयों पर भी कई विद्वान् लेखकों ने इस युग में अपनी लेखनी उठाई है। तथापि हिन्दी-साहित्य के इन अंगों की अभी पर्याप्त उन्नति नहीं हो सकी। इसका कारण विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी का न होना है। जब से देश में प्रांतीय सरकारों की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आई है, तब से उन्होंने इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया है। आशा है शीघ्र ही उच्च से उच्च शिक्षा हिन्दी में हो सकेगी, तब

स्वभावतः ही उसमें उच्च राजनीतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक साहित्य की सृष्टि हो सकेगी, और आज भी इन विषयों पर निकलती पुस्तकों को देखकर हिन्दी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुन्दर दिखाई दे रहा है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा पं० जयचन्द्र विद्यालंकार द्वारा लिखे मौलिक इतिहास-ग्रन्थों पर तो हिन्दी साहित्य अभिमान कर सकता है।

इस युग की दूसरी विशेषता है, हिन्दी का व्यापक विस्तार। इस काम का सारा श्रेय पत्र-पत्रिकाओं तथा सभा-संस्थाओं को है। आजकल भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से विविध विषयों के हिंदी-पत्र और पत्रिकाएँ निकल रही हैं। हिंदी का प्रचार करने वाली सभा-संस्थाओं में से काशी नागरी प्रचारिणी सभा, तथा हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के नाम उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए महात्मा गांधी जी के प्रयत्न से आज से कई वर्ष पूर्व दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा स्थापित हुई थी, जो अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता प्राप्त कर रही है। अब तो जिन प्रांतों में कांग्रेसी-मंत्रिमंडल हो गये हैं, वहाँ हिंदी सब के लिए अनिवार्य की जा रही है।

पर जहाँ हिन्दी का इतना प्रचार बढ़ रहा है, वहाँ, उसके साथ ही, कई नई समस्याएँ हमारे सामने आ रही हैं। सबसे विकट समस्या जो बरसों से चली आती है, हिन्दी-उर्दू समस्या है। जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम समस्या भारतीय-राजनीति की एक जटिलतम समस्या हो गई है, वैसे ही हिन्दी-उर्दू का प्रश्न भी दिन प्रतिदिन अधिक

जटिल होता जाता है । हिंदी गद्य के उत्पत्ति काल में ही राजा शिवप्रसाद जैसे विचारकों ने हिंदी को हिंदुओं की भाषा तथा उर्दू को मुसलमानों की भाषा कहना प्रारंभ कर दिया था। ज्यों ज्यों इस प्रश्न के समाधान करने का प्रयत्न किया गया, त्यों त्यों यह विकट रूप धारण करता गया है ।

हिन्दी-उर्दू दोनों का मूलाधार यद्यपि एक ही है, दोनों की उत्पत्ति मेरठ तथा दिल्ली के आसपास प्रदेश की खड़ी बोली से हुई है, पर दोनों का अंतर बढ़ता ही जाता है। राष्ट्रीय नेताओं ने इस खाई को पाटने के लिए, भाषा को सांप्रदायिकता के दामन से छुड़ाने के लिए जनता को उस भाषा को अपनाने के लिए प्रेरित किया जिसमें न संस्कृत के शब्दों की अधिकता हो, न अरबी फारसी के शब्दों की भरमार, और जिसे वे हिन्दोस्तानी भी कहते हैं, जो साधारणतया बोलचाल की भाषा है। महात्मा गांधी के सभापतित्व में अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इंदौर अधिवेशन में ऐसी भाषा को राष्ट्रभाषा मानने का प्रस्ताव किया। पं० जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' में ऐसी ही भाषा रखने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसी भाषा गंभीर साहित्य में काम दे सकेगी। हम देखते हैं कि 'मेरी कहानी' में जहाँ अनुवादक ने पंडितजी का भावात्मकता का चित्र उतारने का प्रयत्न किया है, वहाँ या तो उसे अप्रसिद्ध विदेशी शब्दों का प्रयोग करना पड़ गया या वहाँ वह संस्कृत-मिश्रित हिंदी की ओर ढुलक गया है। अतएव हम समझते हैं, राष्ट्रभाषा के रूप में हम उस हिन्दोस्तानी को अपना

सकते हैं जो बोलचाल की भाषा है, पर साहित्यिक भाषा के रूप में यह हल भी काम न दे सकेगा। क्योंकि साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में सदा अंतर रहा है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जब हिन्दी का प्रचार बढ़ेगा तो उसमें कई प्रांतीय शब्दों का प्रयोग भी बढ़ेगा। क्या उन शब्दों का स्वागत किया जाय, अथवा संस्कृत की तरह हिन्दी पर बंधन लगाया जाय। हम तो उन शब्दों को अपनाने के पक्ष में हैं, क्योंकि सजीव भाषाएँ हमेशा दूसरी भाषाओं के शब्द अपनाया करती हैं। इसीसे उनका शब्द-भंडार बढ़ता रहता है। यदि संस्कृत की तरह हिन्दी में भी नये शब्दों—नये खून—को आने से रोका गया तो उसकी उन्नति रुक जायगी।

लेखकों के विषय में—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के संपादक के पद से हिन्दी की जो स्मरणीय सेवाएँ की थीं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनकी निजू रचनाओं में शुद्धता का बड़ा ध्यान रहता है। पर भाषा की विशुद्धता के विचार से द्विवेदी जी बड़े उदार विचार के हैं, वे स्थान की उपयुक्तता के अनुसार हिन्दी, उर्दू, अंगरेज़ी आदि सभी भाषा के शब्दों का व्यवहार करते हैं। उनका शब्द-चयन बड़ा शक्तिशाली तथा व्यवस्थित होता है। उनकी वाक्य-रचना भी बड़ी विशुद्ध होती है। छोटे-छोटे वाक्यों में कांति तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की सम्यक् अभिव्यंजना करना द्विवेदी जी के बाएँ हाथ का

खेल है। वाक्य में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते हैं कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा और वाक्यों को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी, जो लेखक को अभिप्रेत है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की गणना द्विवेदी-काल के मननशील लेखकों में की जाती है। ये क्लिष्ट संस्कृत-बहुल भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिन्दी भी। इनकी संस्कृत-मय-गद्य की शैली में तो पद्य की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। उसमें पद्य की सी ही लहर, शब्द-संगठन, भावभंगी एवं माधुर्य दिखाई देता है।

उपाध्याय जी का वाक्य-विस्तार विशेषतया दर्शनीय होता है। वाक्यों में अनुप्रास आदि अलंकारों का आधिक्य होने पर भी किर-किरापन नहीं होता और क्लिष्ट शब्दों के होने पर भी दुरूहता नहीं होती। पर संस्कृत के शब्दों का अधिक प्रयोग उपाध्याय जी वहीं करते हैं जहाँ उन्होंने किसी विवाद-ग्रस्त विषय पर लिखना हो, अथवा गूढ़ मीमांसा करनी हो अथवा जब उन्हें मनोभाव-व्यंजक कोई शब्द हिन्दी में प्राप्त न होता हो। ठेठ हिन्दी लिखने में भी उपाध्याय जी को कमाल हासिल है। उन्होंने 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' ठेठ हिन्दी में लिखे हैं। यद्यपि उन ग्रंथों की भाषा बोलचाल से ली गई है, परन्तु उसमें ग्रामीणता कहीं लेश-मात्र को भी नहीं है और सजीवता का भी हनन नहीं हुआ। इस तरह उपाध्याय जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि क्लिष्ट संस्कृत शब्दों तथा

उर्दू की चुभती पदावली के बिना भी सजीव रचना हो सकती है। संस्कृतमय गद्य, और ठेठ हिन्दी के अतिरिक्त, मुहावरों का सुंदर प्रयोग करने में भी उपाध्याय जी को असाधारण अधिकार और क्षमता प्राप्त है। पर जहाँ मुहावरों का प्रयोग हुआ है, वहाँ भाषा में गांभीर्य नहीं रहा अपितु चटपटापन आ गया है। आज कल वे मुहावरों पर ही अधिक ज़ोर दे रहे हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे गंभीर विचारक और साहित्य-महारथी पर हिन्दी साहित्य निस्सन्देह गर्व कर सकता है। वे हिन्दी के साहित्यिकों में सर्वोत्तम स्थान पाने के अधिकारी हैं। उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। "उनकी भाषा संयत, परिष्कृत प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है। उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष है, जो सम्भवतः किसी भी वर्त्तमान लेखक में नहीं पाया जाता।"

वे विषय-प्रतिपादन में अत्यधिक सतर्क रहते हैं, और गागर में सागर भर देते हैं। उनके लेख में एक भी शब्द भरती का नहीं होता। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य स्पष्ट अपनी सत्ता का दिग्दर्शन कराता है। भाषा सदैव भावनिदर्शन के अनुरूप होती है। विषयों की गहनता के कारण उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता है, उसमें उर्दूपन और ठेठपन न्यूनातिन्यून है। विषय की गंभीरता के कारण जहाँ उन्हें उपयुक्त शब्द नहीं मिले, वहाँ वे नये शब्दों के निर्माण में भी नहीं चूके।

क्रोध, करुणा, उत्साह आदि मनोभावों पर लिखे हुए उनके दार्शनिक लेख हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की अनुपम निधि हैं। उनके

साहित्यिक निबन्ध सारगर्भित तथा गवेषणापूर्ण हैं । जायसी, सूर, तुलसी आदि पर सुन्दर विश्लेषणात्मक आलोचना के रूप में लिखे गए उनके निबन्धों ने हिन्दी में आलोचना का एक नया ही पथ प्रवर्तित किया है, जिसका अनुकरण उनके अनेक शिष्य कर रहे हैं।

रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने सतत परिश्रम से काशी-नागरी प्रचारिणी सभा जैसी साहित्यिक संस्था की स्थापना कर हिंदी संसार को अपना चिर-ऋणी बना लिया है । उससे प्रकाशित ग्रन्थमाला और हिंदी शब्द-सागर जैसे बृहत् कोष आदि का संपादन-भार प्रायः इन पर ही था । इन्होंने स्वयं भी कई उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे हैं । इनकी लेखन-शैली शुद्ध संस्कृतमय होती है, पर उसे पंडिताऊ नहीं कहा जा सकता । न उसमें समास-बहुल पदावली रहती है और न व्यर्थ का शब्दाडंबर । उर्दू तथा बोलचाल के शब्दों और मुहावरों का इनकी रचनाओं में प्रायः अभाव होता है। इन्हीं कारणों से वह कभी-कभी रूखी हो जाती है । साहित्यालोचन आदि स्वरचित ग्रंथों में इन्होंने जिन विषयों का प्रतिपादन किया है वे विषय हिंदी के लिए सर्वथा नये थे । अतएव उन विषयों के भली-भाँति निदर्शन के लिए इन्हें एक ही बात को बार-बार दोहराना पड़ा है। पर कई स्थानों में उस पुनरुक्ति और पूर्व-कथित वस्तु के बीच कुछ विरोध का आभास मिलता है । उनके नये लिखे 'हिन्दी भाषा और साहित्य' आदि ग्रन्थ इस दोष से सर्वथा रहित हैं । इन नवीन पुस्तकों में इनकी आलोचनात्मक शैली का जो निखरा और प्रौढ़ रूप दिखाई देता है, वह इनके गौरव के लिए आवश्यक था ।

राय कृष्णदास हिन्दी गद्य में काव्य की धारा बहाने वालों में से हैं। "परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है, उसकी व्यंजना इन्होंने बड़ी ही मार्मिक प्रणाली से की है। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण कल्पना का इन्होंने विशेष आधार रक्खा है। भावनाओं की गंभीरता के साथ साथ इनकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। इतनी व्यावहारिक और नित्य की चलती फिरती सीधी-सादी भाषा का ऐसा उपयोग किया गया है कि भाव-व्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आगई है।" साधारण उर्दू शब्दों का यद्यपि प्रयोग किया गया है, पर अधिकता संस्कृत के तत्सम शब्दों की है और उनमें कोमल तद्भव शब्दों का अनूठा सम्मि-लन किया गया है। वाक्य प्रायः छोटे-छोटे होते हैं, पर उनमें प्रवाह बना रहता है और उनका गठन विशेष दर्शनीय होता है। उनकी बनावट में कर्त्ता, कर्म और क्रिया का उलट-फेर आकर्षक होता है। सारांश यह कि सुकुमार मनोभावों को प्रकट करने के लिए जैसी भाषा, जैसी पदावली चाहिये, वैसी ही इन्होंने प्रयुक्त की है, "इनकी कृतियों में भाषा और भाव का मणि-कांचन का संयोग पाया जाता है।"

पंडित पद्मसिंह शर्मा की भाषा में हमें एक विचित्र विनो-दात्मक रूप मिलता है। उर्दू, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के शब्दों की इतनी रुचिकर खिचड़ी, ऐसा अभिन्न सम्मिश्रण उनसे पहले किसी की रचना में न मिला था। उनके लेख में अद्भुत सजीवता है। किस प्रकार अपने मत का पोषण किया जाता है, किस प्रकार

पाठक पर जादू किया जा सकता है, किस प्रकार एक-एक वाक्य तीर का काम कर सकता है और किस प्रकार वर्ण्य-विषय को आकर्षक बनाया जा सकता है, इसे वे खूब जानते हैं, इस फ़न में वे माहर हैं। उनका वाक्य-विन्यास अनूठा है—उनके लेख में संस्कृत और उर्दू की सूक्तियों की अजब बहार होती है। उनकी बात-बात में व्यंग्य होता है, निराला चुटीलापन होता है और मर्म-स्थल पर चोट करने के लिए एक ही बात की कई बार पुनरुक्ति होती है, पर यह पुनरुक्ति कथन को दोषपूर्ण नहीं अपितु रम्य बना देती है।

'बिहारी सतसई की समालोचना' नामक ग्रंथ में तुलनात्मक आलोचना की जिस शैली का उन्होंने प्रयोग किया है, वह भले ही गंभीर आलोचनात्मक निबन्धों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो, और उसमें पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाषा का दिव्य रूप भी न पाया जाता हो, पर वह आकर्षक है और मननशील आलोचकों के लिए आदर्श वस्तु न होने पर भी काव्यरसिकों के विनोद की वस्तु है।

पंडित पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी उच्चकोटि के लेखक आलोचक और कवि हैं। द्विवेदी जी के बाद 'सरस्वती' के संपादन का भार इन्हीं के सुयोग्य कंधों पर पड़ा था। इन्होंने अनेक विषयों पर गंभीर विचारपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जिन से इनकी विद्वत्ता, अध्ययन की गहनता तथा विचार-शैली आदि का पता चलता है। इनके वाक्य छोटे-छोटे और शैली विषयानुकूल होती है। उनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है और उसमें अंग्रेज़ी आलो-

चन-शैली की छाप झलकती है। बख्शी जी में यह एक और विशेषता है कि वे गम्भीर साहित्य के साथ-साथ बाल-साहित्य के भी अच्छे निर्माता हैं, इससे यह पता लग जायगा कि वे शैली में कितना परिवर्त्तन कर सकते हैं।

वियोगी हरि वस्तुत: कवि-हृदय हैं। वे पद्य तो अनोखा लिखते ही हैं पर गद्य में भी काव्य की धारा बहाते हैं। उनके प्रारम्भिक-गद्य-काव्य पाण्डित्य-मंडित थे। उनमें सानुप्रासिकता तथा दीर्घ समासान्त पदावली पाई जाती थी, जिससे भाव-व्यंजना कुछ दुर्बोध होगई थी, पर हरिजी के नवीन ग्रन्थों में लंबे-लंबे समास कम होते जाते हैं और कई स्थानों पर उनके वाक्य भी बहुत छोटे-छोटे होते हैं। अपने आराध्य के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शन करते हुए जब वे भावावेश में लेखनी उठाते हैं, तब उनके वाक्यों में बड़ा सुन्दर उलट फेर दिखाई देता है। इस वाक्य-व्यतिक्रम का क्रम जब कुछ दूर तक चलता रहता है, तब बहुत भला प्रतीत होता है। स्थान-स्थान पर अपने भावों को मूर्त्त रूप देने के लिए वे अन्य कवियों की सूक्तियों का बड़ा सुन्दर प्रयोग करते हैं। इस प्रकार गद्य-पद्य-मिश्रित निबन्ध लिखना इनकी विशेषता हो गई है।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की पुस्तक रूप में कोई मौलिक रचना हिन्दी-गद्य साहित्य में नहीं दिखाई देती, परन्तु वर्षों तक प्रताप के संपादक के रूप में उन्होंने जो सिंहनाद किया, हिन्दी साहित्य की जो सेवाएँ की, वे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेंगी। इन्हीं सेवाओं के कारण उन्हें अखिल भारतीय

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाकर हिन्दी-प्रेमियों ने उनका आदर किया था। जिस तरह भारतेन्दु-मंडल के लेखकों ने भारतेन्दु के यश को द्विगुणित किया था, जिस तरह महाकवि मैथिली शरण गुप्त तथा हिन्दी क अन्य अनेक लेखक सरस्वती-संपादक आचार्य द्विवेदी जी के नाम को उज्ज्वल कर रहे हैं, उसी तरह 'भारतीय आत्मा' श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—जैसे युवक पर प्रौढ़ लेखक और कलाकार प्रताप-संपादक विद्यार्थी जी के यशःशरीर को अमर कर रहे हैं।

विद्यार्थी जी के निजू तपस्वी जीवन की तरह उनकी शैली में एक निराला ओज था। उनकी भाषा में एक विचित्र अपनापन और प्रौढ़ता थी। सम-सामयिक तथा राजनीतिक विषयों पर उनके विचार जितने सुलझे हुए थे, उनकी पैनी दृष्टि जिस तरह इन विषयों की तह तक पहुँच जाती थी, उनकी शैली और उनकी भाषा भी इन विषयों के विवेचन और चर्चा के लिए सर्वथा उपयुक्त और अद्वितीय थी। उसमें भावावेश के साथ-साथ तथ्य और युक्ति का बल होता था। अपने नये विचारों को व्यक्त करने के लिए अन्य भाषाओं से कुछ भी लेने में वे न सकुचाते थे, परन्तु वे जो कुछ लेते थे, वह अपनी भाषा के व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए, उसे खो कर नहीं। कई शब्द और शब्दांश उन्होंने हिन्दी गद्य में नये ही दिये हैं। हिन्दी और उर्दू को वे दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ न मानते थे, उनके मतानुसार वे राष्ट्र-भाषा के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। हिन्दी साहित्य के दुर्भाग्य से हमारी धर्मान्धता ने असमय में ही उनके अनमोल प्राण ले लिए।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द जिस प्रकार सर्वोत्तम उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक थे, उसी प्रकार इस समय के सर्वोत्कृष्ट गद्य-लेखकों में भी उनकी गिनती की जा सकती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू जयशंकर प्रसाद, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, राय कृष्णदास, आदि साहित्य-महारथियों की भाषा में तत्सम-पदावली का आधिक्य है। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न है, और उसमें व्यावहारिकता की कमी है। परन्तु मुंशी जी की शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। समय या पात्र के अनुकूल वह थोड़ी बहुत बदल जाती है, पर साधारण-तया उनके ग्रन्थों में उसी भाषा का प्रयोग हुआ है, जो शिष्ट समुदाय की बोलचाल की दैनिक भाषा है। इस तरह वे हिन्दी को संस्कृत और फ़ारसी दोनों की पराधीनता से बचाते हुए साधारण बोलचाल की भाषा से मेल खाती हुई एक नई, टकसाली और रोचक-शैली के निर्माता हुए हैं; और हिन्दी को दुरूहता के दलदल से निकालकर उसमें रोचकता लाने में समर्थ हुए हैं।

इसी व्यावहारिक भाषा में उन्होंने वर्णनात्मक शक्ति का ऐसा चमत्कार दिखाया है, जैसा अब तक के किसी लेखक में पाया नहीं जाता। "वर्णन करते समय वे भाषा को विचित्र प्रकार से तोड़मरोड़ लेना खूब जानते हैं। जब कभी किसी बाह्य प्रकृति के दृश्य को अथवा बाह्य घटना को चित्रित करने लगते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि उनकी कलम से भाषा-सौंदर्य के फ़ुहारे छूटते हैं। एक ही बात का उल्लेख वे कई उपमाओं और दृष्टान्तों से चुने हुए शब्दों

में करते हैं।" उपयुक्त स्थान पर सुन्दर मुहावरों का प्रयोग करने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं। चार छः वाक्यों के बाद एक निष्कर्ष-वाक्य या एक मर्म-भेदिनी उक्ति उनकी रचना में स्थान-स्थान पर पाई जाती है, जो मर्म-स्थल पर चोट करती है। "यही नहीं व्यंग्य में आपकी फब्तियाँ गज़ब ढाती हैं।"

प्रेमचन्द जी के उपन्यास हिन्दी की स्थायी संपत्ति हैं। "मनुष्य की अन्तःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रि-मता उनके उपन्यासों में मिली है वह पहले किसी उपन्यासकार में नहीं पाई गई थी।" उनकी कहानियाँ बरसों तक कहानी-प्रेमियों की कंठहार बनी रहेंगी। इस एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ने हिन्दी में उपन्यास और कहानी-साहित्य की जो श्री वृद्धि की है उतनी अन्य कई मिलकर भी नहीं कर सके। शोक है, हिन्दी के दुर्भाग्य से वह कहानीकार अब स्वयं कहानी हो गया है।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा भाषा-विज्ञान के प्रामाणिक विद्वान् हैं। इसी विषय पर इन्होंने दो-तीन पुस्तकें लिखी हैं। गहन से गहन विषय को ये सरलता से स्पष्ट करने में सफल हुए हैं, पर कइयों के मत में इनकी यह सरल शैली गंभीर विवेचन के लिए प्रशस्त नहीं कही जा सकती। हिन्दी-साहित्य इन से बहुत कुछ पाने की आशा करता है।

श्रीराम शर्मा सिद्ध-हस्त लेखक और शिकारी हैं। बहुत समय तक श्रद्धेय गणेशजी के 'प्रताप' का संपादन करते रहे हैं। पर आजकल इन्होंने शिकार के विषय की धूम मचा रखी है।

इनकी भाषा बड़ी चलती और चुटीली है। आचार्य द्विवेदी जी भी इनकी शैली की दाद देते हैं, और स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की तो सम्मति थी कि बंदूक से बढ़कर इनकी लेखनी का निशाना बैठता है।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी प्रसिद्ध कवि हैं, अनूठे कलाकार हैं, सफल संपादक हैं, और ऊँचे दर्जे के गद्य-लेखक हैं। परन्तु उन का गद्य-साहित्य अब तक परदानशीन बीबी की तरह छिपा हुआ है—अप्रकाशित है। उनके पद्य की तरह उनके गद्य में भी कसक है, और रहस्यपूर्ण सांकेतिकता समन्वित होती है। अतएव दुरूह न होते हुए भी कहीं-कहीं वह दुरूहता के निकट पहुँच जाता है। उसको समझने के लिए मस्तिष्क को कसरत करनी पड़ती है, पर एक ही तथ्य की बारबार पुनरुक्ति उसको सुबोध बना देती है। भावों की दुरूहता होने पर भी भाषा बड़ी चलती है, उसमें दैनिक व्यवहार के शब्दों का इतना प्रयोग है कि ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार अपनी कल्पनाओं को बिना सँवारे ही रखता जाता है। हिन्दी में इस ढंग के इतनी ऊँचाई से बात करने वाले साहित्यिक बहुत कम हैं।

राहुल सांकृत्यायन संस्कृत के अच्छे पण्डित और भारतीय दर्शन के विद्वान् हैं। ये बौद्ध-भिक्षु हैं। बौद्ध धर्म के अध्ययन, उस के प्रचार तथा उसकी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज में अनेक देशों का परिभ्रमण कर चुके हैं और अब भी इनकी यात्रा का क्रम बंद नहीं हुआ। यात्रा से वापिस लौटते ही ये अपनी यात्राओं का रोचक

वृत्तांत पुस्तक रूप में प्रकाशित करवा देते हैं। इनके यात्रा-वर्णन में घटनाओं और परिस्थितियों का संयत और सुरुचिपूर्ण वास्तविक चित्र होता है, उसमें अतिरंजन या शब्दाडंबर नहीं दिखाई देता।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी एक अनुभवी और सुयोग्य अध्यापक हैं। यद्यपि इन्होंने कहानियाँ आदि भी लिखी हैं, परन्तु इनकी अधिकतर रचनाएँ साहित्य के विद्यार्थियों के लिए ही उपयोगी हैं और शैली भी उसके अनुकूल ही है।

श्री अन्नपूर्णानंद सभ्य हास्य और व्यंग्यात्मक लेख लिखने में अपना सानी नहीं रखते। ये साहित्यिक रुचि रखनेवाले शिष्ट समाज के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं। हास्य में शिष्टता की सीमा का कभी उल्लंघन नहीं करते, यही इनकी विशेषता है। इनक हास्य के विषय अधिकतर साहित्य, देश और समाज हैं। दकियानूसी विचारवालों पर ही इन्होंने अधिकतर व्यंग्य कसे हैं। विषय के अनुकूल ही इनकी लेख-शैली भी है।

आचार्य काका कालेलकर गंभीर विचारक तथा मौलिक चिंतक है। इनका जीवन भारत की अन्तर्प्रांतीय सांस्कृतिक एकता का एक सुंदर नमूना है। इनकी मातृभाषा मराठी है, पर ये गुजराती के उत्कृष्ट निबंध-लेखक समझे जाते हैं। आजकल ये उस भारतीय साहित्य-परिषद के मंत्री हैं, जिसका उद्देश्य भारत के सब प्रांतीय-साहित्यों को हिन्दी के माध्यम द्वारा एक सूत्र में बाँधना है। परिषद के इस उद्देश्य को लेकर ये समस्त भारत का भ्रमण कर रहे हैं, और अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रांतों में राष्ट्र-भाषा के प्रचार का उद्योग कर रहे हैं। इनका लेख इस नई लहर का परिचायक है।

श्रीयुत विश्वंभरनाथ शर्मा "कौशिक" 'विजयानंद दुबे' नाम धरकर हिन्दी में हास्य और व्यंग्य-साहित्य पर्याप्त पैदा कर चुके हैं। बरसों तक मासिक-पत्रिकाओं में निकलती हुई 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' और 'दुबे जी की डायरी' की पाठक प्रतिमास उत्सुकता से प्रतीक्षा करते रहे और 'विजयानंद दुबे' के व्यक्तित्व जानने के इच्छुक रहे। इन चिट्ठियों और डायरी में कौशिक जी ने भारतीय पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर खूब व्यंग्य कसे हैं। इस हास्यमय और व्यंग्यात्मक साहित्य-लेखक की अपेक्षा कौशिक जी हिन्दी साहित्य में एक सफल कहानी-लेखक और उपन्यासकार के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी कहानियों में भी पारिवारिक और गार्हस्थ्य-जीवन का सफल चित्र मिलता है। भाषा स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद जी की तरह ही मुहावरेदार और व्यावहारिकपन लिए हुए होती है। इनका 'माँ' नामक उपन्यास तो एक बहुत ही उत्कृष्ट रचना है।

मिश्रबंधु—श्री गणेशविहारी मिश्र, रावराजा रायबहादुर श्यामविहारी मिश्र एम. ए. तथा रायबहादुर शुकदेवविहारी मिश्र—हिन्दी जगत् में अपनी अथक साहित्यिक सेवाओं विशेषतः समालोचना-साहित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। ये तीनों प्रायः मिलकर साहित्यिक रचना करते हैं। 'हिन्दी-नवरत्न' तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' नामक समालोचनात्मक तथा साहित्यिक इतिहास-संबंधी ग्रंथ लिख कर इन्होंने हिन्दी-साहित्य में समालोचना की नींव डाली थी। आधुनिक आलोचक या साहित्य-पारखी इनकी आलोचना-शैली के चाहे कायल न हों और इनके मत से सहमत न हों पर इनके इस उपकार को भुलाया नहीं जा सकता।

महाराज कुमार रघुवीरसिंह मध्यभारत की सीतापुर रियासत के साहित्य-रसिक युवराज हैं। इतिहास से इनका विशेष प्रेम है। प्राचीन भारतीय इतिहास की इन्होंने पर्याप्त खोज भी की है। गद्यकाव्य भी अनूठा लिखते हैं, जिसमें प्रायः अतीत स्मृति की छाप रहती है और भाषा में माधुर्यगुण विशेष रहता है।

श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार हिन्दी के उन मौलिक चिंतकों में से हैं जिन पर हिन्दी साहित्य गर्व कर सकता है। अध्ययन की गंभीरता, विचारों की स्वतंत्रता और कल्पना की प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ भारतीय दृष्टि तथा भारतीय चिन्तन का मिश्रण कर इन्होंने भारतीय इतिहास के रंग को ही बदल डाला है। हिन्दी में ऐसे ऐतिहासिक मनोवृत्ति वाले विरले ही हैं। आँख मूँदकर विदेशी ऐतिहासिकों की नकल करने वालों से इनको चिढ़ है। गूढ़ और मौलिक विषय के साथ-साथ इनकी भाषा में भी मौलिकता और सजीवता है। उसमें न संस्कृत शब्दों की भरमार होती है और न विदेशी शब्दों की, ये देशज शब्दों के पक्षपाती हैं। इतने पर भी दूसरे शब्दों का बहिष्कार नहीं करते, अपितु उन्हें देशी चोला पहना कर प्रयुक्त करते हैं। अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों का भी ये अंधाधुंध अनुवाद नहीं करते, वरन् जहाँ तक बन सके प्राचीन भारतीय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं।

बाबू श्रीप्रकाश एम. एल. ए. बड़े व्यस्त राजनैतिक नेता हैं, फिर भी कुछ न कुछ साहित्य-रचना करते रहते हैं। अर्थशास्त्र, नागरिकता और राजनीति ही इनके प्रिय विषय हैं। इनकी भाषा सरल हिन्दुस्तानी है।

प्रस्तुत संग्रह किशोरावस्था के विद्यार्थियों के लिए बनाया गया है, अतः इसके इस परिशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण में द्विवेदी काल के पहले के लेखकों के वे लेख निकाल दिये गये हैं, जिनकी पर्याप्त साहित्यिक मूल्य है, पर जिनकी भाषा आजकल टकसाली नहीं कही जा सकती।

अंत में जिन लेखकों के लेख इस संग्रह में दिये गये हैं, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

श्रीनिवास चतुर्वेदी
इन्द्रनाथ मदान

कालिदास के मेघदूत का रहस्य

कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है, जिसमें पद्यरूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न, जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल-वृष्टि का असर पड़ता है; आँधी तूफान से उसे हानि पहुँचती है; बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट भी हो सकती है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ भी ज़ोर नहीं चलता। न वह गिर सकती है, न घिस सकती है, न उसका कोई अंश टूट ही सकता है। काल पाकर और इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात् हो जाती है; पर यह अद्‌भुत भवन न कभी जीर्ण होगा और न कभी इसका ध्वंस ही होगा। प्रत्युत इसकी रमणीयता-वृद्धि ही की आशा है। इसे अजर भी कह सकते हैं और अमर भी।

अलकाधिपति कुवेर के कर्मचारी एक यक्ष ने कुछ अपराध किया। उसे कुवेर ने, एक वर्ष तक, अपनी प्रियतमा पत्नी से दूर जाकर रहने का दण्ड दिया। यक्ष ने इस दण्ड को चुपचाप स्वीकार कर लिया। अलका छोड़कर वह मध्य-प्रदेश के रामगिरि नामक पर्वत पर आया। वहीं उसने एक वर्ष बिताने का निश्चय किया। आषाढ़ का महीना आने पर बादल आकाश में छा गये। उन्हें देखकर यक्ष का पत्नी-

वियोग-दुःख दूना हो गया। वह अपने को भूल सा गया। इसी दशा में उस विरही यक्ष ने मेघ को दूत कल्पना करके, अपनी वार्ता अपनी पत्नी के पास पहुँचानी चाही। पहले कुछ थोड़ी सी भूमिका बाँध कर उसने मेघ से अलका जाने का मार्ग बताया, फिर सँदेशा कहा। कालिदास ने मेघदूत में इन्हीं बातों का वर्णन किया है।

मेघदूत की कविता सर्वोत्तम कविता का एक बहुत ही अच्छा नमूना है। उसे वही अच्छी तरह समझ सकता है जो स्वयं कवि है। कविता करने ही से कवि-पदवी नहीं मिलती। कवि के हृदय को—कवि के काव्य-मर्म को—जो जान सकते हैं वे भी एक प्रकार के कवि हैं। किसी कवि के काव्य के आकलन करने वाले का हृदय यदि कहीं कवि ही के हृदय सदृश हुआ तो फिर क्या कहना है। इस दशा में आकलनकर्ता को वही आनन्द मिलेगा जो कवि को उस कविता के निर्म्माण करने से मिला होगा। जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतनी ही अधिक ऊँचे दरजे की समझना चाहिए। इसी तरह, जिस कवि या समालोचक को किसी काव्य के पाठ या रसास्वादन से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक उस कविता का मर्म जाननेवाला समझना चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखकर, आइए, देखें, कालिदास ने इस काव्य में क्या-क्या करामातें दिखाई हैं। पर इससे कहीं यह न

समझ लीजिएगा कि हम कवि या समालोचक होने का दावा करते हैं। हम तो ऐसे महानुभावों के चरणों की रज भी नहीं।

इस कविता का विषय—यहाँ तक कि इसका नाम भी—कालिदास के परवर्ती कवियों को इतना पसन्द आया है कि इसकी छाया पर हंसदूत, पदाङ्कदूत, पवनदूत, और कोकिलदूत आदि कितने ही दूत-काव्य बन गये हैं। यह इस काव्य की लोक-प्रियता का प्रमाण है।

कालिदास को इस काव्य के निर्माण करने का बीज कहाँ से मिला? इसका उत्तर "इत्याख्याते पवनतनयं मैथिली-वोन्मुखी सा"—इत्यादि इसी काव्य में हैं।

"इतनो कहत तोहिं मम प्यारी।
जिमि हनुमत को जनक-दुलारी॥
सीस उठाय निरखि घन लैहै।
प्रफुलित-चित ह्वै आदर दैहै॥"

यक्ष की तरह रामचन्द्र को भी वियोग-व्यथा सहनी पड़ी थी। उन्होंने पवनसुत हनूमान को अपना दूत बनाया था। यक्ष ने मेघ को दूत बनाया। मेघ का साथी पवन है, हनूमान की उत्पत्ति पवन से है। अतएव दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध भी हुआ। यह सम्बन्ध काकतालीय-सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु मैथिली के पास रामचन्द्र का सँदेशा भेजना वैसा सम्बन्ध नहीं। बहुत सम्भव है, कालिदास को इसी सन्देश-स्मृति ने प्रेरित करके उनसे इस काव्य की रचना कराई

हो; बहुत सम्भव है, यह मेघ-सन्देश कालिदास ही का आत्म-सन्देश हो।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर है। वे धाराधिप विक्रम के सभा-रत्न थे। यदि यह बात सत्य हो तो काश्मीर से धारा के मार्ग में जो नदियाँ, नगर, पर्वत और देश आदि पड़ते हैं उनसे कालिदास का बहुत अच्छा परिचय रहा होगा। धारा और काश्मीर के आसपास के प्रदेश, नगर और पर्वत आदि भी उन्होंने अवश्य देखे होंगे। मेघ को बतलाये गये मार्ग में विशेष करके इन्हीं का वर्णन है, और यह वर्णन बहुत ही मनोहर और प्राय: यथार्थ है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो काश्मीर ही कालिदास की जन्मभूमि हो और जिन वस्तुओं और स्थलों का उन्होंने इस काव्य में वर्णन किया है उनको उन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो।

कवियों की यह सम्मति है कि विषय के अनुकूल छन्दो-योजना करने से वर्ण्य विषय में सजीवता सी आ जाती है। वह विशेष खुलता है। उसकी सरलता और सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति बढ़ जाती है। इस काव्य में शृङ्गार और करुण-रस के मिश्रण की अधिकता है। यक्ष का सन्देश कारुणिक उक्तियों से भरा हुआ है। जो मनुष्य कारुणिक आलाप करता है, या जो प्रेमोद्रेक के कारण अपने प्रेम-पात्र से मीठी-मीठी बातें करता है, वह न तो साँप के

सदृश टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता है, न रथ के सदृश दौड़ता ही है। अतएव उसकी बातें भुजङ्गप्रयात या रथोद्धता, या और ऐसे ही किसी वृत्त में अच्छी नहीं लगतीं। वह तो ठहर ठहर कर, कभी धीमे और कभी कुछ ऊँचे स्वर में, अपने मन के भाव प्रकट करता है। यही जानकर कालिदास ने मन्दाक्रान्ता वृत्त का उपयोग इस काव्य में किया है। और, यही जानकर, उनकी देखा-देखी, औरों ने भी, दूत-काव्यों में, इसी वृत्त से काम लिया है।

कवि यदि अपने मन का भाव ऐसे शब्दों में कहे जिनका मतलब सुनने के साथ ही, सुननेवाले की समझ में आ जाय तो ऐसा काव्य प्रसाद-गुण से पूर्ण कहा जाता है। जिस तरह पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है उसी तरह प्रसाद-गुण-परिप्लुत कविता का भावार्थ शब्दों के भीतर से झलकता है। उसके हृदयङ्गम होने में देर नहीं लगती। अतएव, जिस काव्य में करुणार्द्र-सन्देश और प्रेमातिशय-द्योतक बातें हों उसमें प्रसाद-गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनों को बताना न पड़ेगा। प्यार की बात यदि कहते ही समझ में न आ गई—कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से तत्काल ही हृदय में न घुस गया—तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिए। प्रेमालाप के समय कोई कोश लेकर नहीं बैठता। करुणा-क्रन्दन करनेवाले अपनी उक्तियों में ध्वनि, व्यंग्य और क्लिष्टता नहीं लाने बैठते। वे तो सीधी तरह, सरल शब्दों में,

अपने जी की बात कहते हैं। यही समझकर महाकवि कालिदास ने मेघ-दूत को प्रसाद-गुण से ओत-प्रोत भर दिया है। यही सोचकर उन्होंने इस काव्य की रचना वैदर्भी रीति में की है—चुन-चुनकर सरल और कोमल शब्द रक्खे हैं; लम्बे-लम्बे समासों को पास तक नहीं फटकने दिया।

देवताओं, दानवों और मानवों को छोड़कर कवि-कुल-गुरु ने इस काव्य में एक यक्ष को नायक बनाया है, इसका कारण है। यक्षों के राजा कुबेर हैं। वे धनाधिप हैं। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उनकी दासियाँ हैं। सांसारिक सुख, धन ही की बदौलत, प्राप्त होते हैं। जिनके पास धन नहीं वे इन्द्रियजन्य सुखों का यथेष्ट अनुभव नहीं कर सकते। कुबेर के अनुचर, कर्मचारी और पदाधिकारी सब यक्ष ही हैं। अतएव कुबेर के ऐश्वर्य का थोड़ा बहुत भाग उन्हें भी अवश्य ही प्राप्त होता है। इससे जिस यक्ष का वर्णन मेघदूत में है उसके ऐश्वर्यवान् और वैभव-सम्पन्न होने में कुछ भी सन्देह नहीं। उसके घर और उसकी पत्नी आदि के वर्णन से यह बात अच्छी तरह साबित होती है। निर्धन होने पर भी प्रेमी जनों में पति-पत्नी-सम्बन्धी प्रेम की मात्रा कम नहीं होती। फिर जो जन्म ही से धन-सम्पन्न है—जिसने लड़कपन ही से नाना प्रकार के सुख-भोग किये हैं—उसे पत्नी-वियोग होने से कितना दुःख, कितनी हृदय-व्यथा, कितना शोक-सन्ताप हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। ऐसा प्रेमी यदि दो-चार दिन के लिए

नहीं, किन्तु पूरे साल भर के लिए, अपनी प्रेयसी से सैकड़ों कोस दूर फेंक दिया जाय तो उसकी विरह-व्याकुलता की मात्रा बहुत ही बढ़ जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे प्रेमी का वियोग-ताप वर्षा में और भी अधिक भीषणता धारण करता है। उस समय वह उसे प्रायः पागल बना देता है। उसी समय इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि इस प्रेमी का प्रेम कैसा है और यह अपनी प्रेयसी को कितना चाहता है। कालिदास ने इस काव्य में आदर्श-प्रेम का चित्र खींचा है। उस चित्र को सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक करने के लिए यक्ष को नायक बनाकर कालिदास ने अपने कवि-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। अतएव आप यह न समझिए कि कवि ने यों ही, बिना किसी कारण के, विप्रयोग-शृंगार वर्णन करने के लिए, यक्ष का आश्रय लिया है।

विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है वह नीच प्रेम है। वह निन्द्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम अवान्तर बात की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों को देखकर वह मुसकरा देता है। क्योंकि इन सब को उसके सामने हार माननी पड़ती है। मेघदूत का प्रेमी निर्व्याज प्रेमी है। उसका हृदय बड़ा ही उदार है। उसमें प्रेम की मात्रा इतनी अधिक है

कि ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विचारों के लिए जगह ही नहीं। यक्ष को उसके स्वामी कुबेर ने देश से निकाल दिया। परन्तु उसने इस कारण, अपने स्वामी पर ज़रा भी क्रोध प्रकट नहीं किया। उसको एक बुरे और कड़े शब्द से याद नहीं किया। उसकी सारी विप्रयोग-पीड़ा का कारण कुबेर था। पर उसकी निन्दा करने का उसे ख़याल तक नहीं हुआ। फिर, देखिए, उसने अपनी मूर्खता पर भी आक्रोश-विक्रोश नहीं किया। यदि वह अपने काम में असावधानता न करता तो क्यों वह अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया जाता। अपने सारे दुःख-शोक का आदि-कारण वह खुद ही था। परन्तु इसका भी उसे कुछ खयाल नहीं। उसने अपने को भी नहीं धिक्कारा। वह धिक्कारता कैसे ? उसके हृदय में इस प्रकार के भावों के लिए जगह ही न थी। उसका हृदय तो अपनी प्रेयसी के निर्व्याज प्रेम से ऊपर तक लबालब भरा हुआ था। वहाँ पर दूसरे विकार रह कैसे सकते थे ?

जो ऐसे सच्चे प्रेम-मद से मत्त हो रहा है, जिसकी सारी इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों से खिचकर एक-मात्र प्रेम-रस में सर्वतोभाव से डूब रही हैं, जिसके प्रेम-परिपूर्ण हृदय में और कोई सांसारिक भावनाएँ या वासनाएँ आने का साहस तक नहीं कर सकतीं, वह यदि अचेतन मेघ को दूत बनावे और उसके द्वारा अपनी प्रेयसी के पास अपना सन्देश भेजे तो आश्चर्य ही क्या ? जो मत्त है और जो संसार की

प्रत्येक वस्तु में अपने प्रेम-पात्र को देख रहा है उसे यदि जड़-चेतन का भेद मालूम रहे तो फिर उसके प्रेम की उच्चता कैसे स्थिर रह सकती है ? वह प्रेम ही क्या जो इस तरह के भेद-भाव को दूर न कर दे। कीट-योनि में उत्पन्न पतंगों के लिए दीप-शिखा की ज्वाला अपने प्राकृतिक दाहक गुण से रहित मालूम होती है। महा-प्रेमी यक्ष को यदि मेघ की अचेतनता का खयाल न रहे तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। फिर, क्या यक्ष यह न जानता था कि मेघ क्या चीज़ है ? वह मेघदूत के आरम्भ ही में कहता है—

"धाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह
ऐसो घन कैसे दूत-काज भुगतावेगो।
नेह को सँदेसो हाथ चातुर पठैबो जोग
बादर कहो जी ताहि कैसे के सुनावेगो॥
बाढ़ी उत्कण्ठा जक्ष-बुद्धि बिसरानी सब
वाही सों निहारयो जानि काज कर आवेगो।
कामातुर होत हैं सदाई मति-हीन तिन्हें
चेत और अचेत माहिं भेद कहाँ पावेगो॥"

उस समय यक्ष को केवल अपनी प्रेयसी का ख़याल था। वही उसके तन और मन में बसी हुई थी। अन्य सांसारिक ज्ञान उसके चित्त से एकदम तिरोहित हो गया था। वह एक प्रकार की समाधि में निमग्न था। इस समाधिस्थ अवस्था में

यदि उसने निर्जीव मेघ को दूत कल्पना किया तो कोई ऐसी बात नहीं कि जो समझ में न आ सके। कवि का काम वैज्ञानिक के काम से भिन्न है। वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में देखता है। परन्तु यदि कवि ऐसा करे तो उसकी कविता का सौन्दर्य, प्रायः सारा, विनष्ट हो जाय। कवि को आविष्कर्ता या कल्पक न समझना चाहिए। उसकी सृष्टि ही दूसरी है। वह निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव कर सकता है। अतएव मध्य-भारत से हिमालय की तरफ जानेवाले पवन-प्रेरित मेघ को सन्देश-वाहक बनाना ज़रा भी अनौचित्य-दर्शक नहीं। फिर, एक बात और भी है। कवि का यह आशय नहीं कि मेघ सचमुच ही यक्ष का सन्देश ले जाय। उसने इस बहाने विप्रयुक्त यक्ष की अवस्था का वर्णन-मात्र किया है और उसके द्वारा यह दिखाया है कि इस तरह के सच्चे बियोगी प्रेमियों के हृदय की क्या दशा होती है; उन्हें कैसी कैसी बातें सूझती हैं, और उन्हें अपने प्रेमपात्र तक अपना कुशलवृत्त पहुँचाने की कितनी उत्कण्ठा होती है।

यक्ष को अपने मरने-जीने का कुछ ख़याल न था। ख़याल उसे था केवल अपनी प्रियतमा के जीवन का। "दयिताजीवितालम्बनार्थम्"—ही उसने सन्देश भेजा था। उसकी दयिता का जीवन उसके जीवन पर अवलम्बित था। उसके मरने अथवा जीवित होने में सन्देह उत्पन्न होने से उसकी दयिता जीती न

रह सकती थी। अतएव यक्ष का सन्देश उसकी यक्षिणी को जीती रखने की रामबाण ओषधि थी। यह ओषधि वह जिसके द्वारा पहुँचाना चाहता था उसके सुख-दुःख का भी उसे बहुत ख़याल था। इसीसे उसने मेघ के लिए ऐसा मार्ग बतलाया जिससे जाने में ज़रा भी कष्ट न हो। उसके मार्ग-श्रम का परिहार होता रहे, अच्छे-अच्छे दृश्य भी उसे देखने को मिलें, और देवताओं और तीर्थों के दर्शन भी हों। ऐसा न होने से मेघ भी क्यों उसका सन्देश पहुँचाने को राज़ी होता? फिर, एक बात और भी है। विरह-कातर यक्ष का सन्देश उसकी प्रियतमा तक पहुँचाकर उसे जीवन-दान देना कुछ कम पुण्य का काम नहीं। संसार में परोपकार की बड़ी महिमा है। उसे करने का मौक़ा भी मेघ को मिल रहा है। फिर भला क्यों न वह यक्ष का सन्देश ले जाने के लिए राज़ी होता? रामगिरि से अलका तक जाने में विदिशा, उज्जयिनी, अवन्ती, कनखल, रेवा, सिप्रा, भागीरथी, कैलास आदि नगरों, नदियों और पर्वतों के रमणीक दृश्यों का वर्णन कालिदास ने किया है। उन्हें देखने की किसे उत्कण्ठा न होगी? कौन ऐसा हृदय-हीन होगा जो उज्जयिनी में महाकाल के और कैलास में शङ्कर-पार्वती के दर्शनों से अपनी आत्मा को पावन करने की इच्छा न रक्खे? कौन ऐसा आत्म-शत्रु होगा जो जंगल में लगी हुई आग को जल की धारा से शान्त करके चमरी आदि पशुओं को जल जाने से बचाने का पुण्य-सञ्चय

करना न चाहे? मार्ग रमणीय, देवताओं और तीर्थों के दर्शन, परोपकार करने के साधन—ये सब ऐसी बातें हैं जिनके लिए मूढ़ से मूढ़ मनुष्य भी थोड़ा बहुत कष्ट खुशी से उठा सकता है। मेघ की आत्मा तो आर्द्र होती है; सन्तप्तों को सुखी करना उसका विरुद है। अतएव वह यक्ष का सन्देश प्रसन्नता-पूर्वक पहुँचाने को तैयार हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है।

अपनी प्रियतमा को जीवित रखने में सहायता देने वाले मेघ के लिए यक्ष ने जो ऐसा श्रमहारक और सुखद मार्ग बतलाया है वह उसके हृदय के औदार्य्य का दर्शक है। कालिदास ने इस विषय में जो कवि-कौशल दिखाया है उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। यदि मेघ का मार्ग सुखकर न होता—और, याद रखिये, उसे बहुत दूर जाना था—तो कौन आश्चर्य जो वह अपने गन्तव्य स्थान तक न पहुँचता। और, इस दशा में, यक्षिणी की क्या गति होती, इसका अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। इसी दुःखद दुर्घटना को टालने के लिए ऐसे अच्छे मार्ग की कल्पना कवि ने की है।

आप कहेंगे, यह निर्व्याज प्रेम कैसा कि यक्ष ने, सन्देश में अपनी वियोगिनी पत्नी का कुशल-समाचार तो पीछे पूछा, पहले अपने ही को "अव्यापन्नः" कहकर अपना कुशल-वृत्त बतलाने और अपनी ही वियोग-व्यथा का वर्णन करने लगा। इससे तो यही सूचित होता है कि उसे अपने

सुख-दुःख का अधिक ख़याल था, यक्षिणी के सुख-दुःख का बहुत ही कम। नहीं, ऐसा न कहिए। यक्ष का यह काम उलटा आपके इस अनुमान का खण्डन करता है। आप इस बात को भूल गये हैं कि यक्षिणी का जीवन यक्ष के जीवन पर ही अवलम्बित है। उसमें संशय उत्पन्न होने से वह जीवित नहीं रह सकती। मेघदूत को पढ़कर यदि आपने इतना भी न जाना तो कुछ न जाना। यक्षिणी के प्राणावलम्ब का हेतु यक्ष है। अतएव उसी के कुशल-समाचार सुनने से यक्षिणी अपना जीवन धारण करने में समर्थ हो सकती है। यक्ष को स्वार्थी न समझिए। वह अपनी दशा का वर्णन करके अपनी स्वार्थपरता नहीं प्रकट करता। वह अपनी दयिता के जीवन को नष्ट होने से बचाने की दवा कर रहा है। यक्ष के सन्देश की पहली पंक्ति है—

"भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामिम्बुवाहम्"।

आप देखिए, इसमें यक्ष ने 'भर्तुः' पद रखकर पूर्वोक्त आशय को कितनी स्पष्टता से प्रकट किया है। जान-बूझकर उसने सन्देश के आदि ही में पति-शब्द का वाचक भर्तृ-शब्द इसीलिए रक्खा है जिसमें यक्षिणी को तत्काल इस बात का ज्ञान हो जाय कि मेरा पति जीवित है। वियोगिनी पतिव्रताओं के कान में यह शब्द जैसी अमृतवर्षा करता है उसका अन्दाज़ा सभी सहृदय कर सकते हैं। कवि यदि चाहता तो 'भर्तुर्मित्रं' की जगह 'मित्रं भर्तुः' कर सकता था। उससे

भी छन्द की गति में व्याघात न आता। परन्तु नहीं, उसने यक्षिणी के कान में सबसे पहिले 'भर्तुः' का सुनना ही उचित समझा।

पूर्वोक्त पंक्ति में 'भर्तुः' का समकक्ष और अर्थ-विशेष से भरा हुआ 'अविधवे' पद भी है। सन्देश की पहली पंक्ति में इसके रखने का भी कारण है। यक्ष ने इसके द्वारा अपनी सह-धर्मचारिणी को यह सूचित किया है कि तू विधवा नहीं हो गई—सौभाग्यवती बनी हुई है; तेरा स्वामी अब तक जीता है। इससे अधिक आनन्ददायक समाचार स्त्री—और पतिप्राणा स्त्री—के लिए और क्या हो सकता है? यक्ष का सन्देश उसकी पत्नी के लिए सचमुच ही 'श्रोत्रपेय' है।

स्त्रियाँ नहीं चाहतीं कि उनके पति के प्रेम का छोटे से छोटा अंश भी कोई और ले जाय। वे उसके सर्वांश पर अपना अधिकार समझती हैं। वियोगावस्था में उन्हें अपने इस अधि-कार के छिन जाने का डर रहता है। यक्ष इस बात को अच्छी तरह जानता है। इसके परिणाम से भी वह अनभिज्ञ नहीं। यही कारण है जो वह अपनी वियोग-कातरता का कारुणिक वर्णन कर रहा है। यही कारण है जो वह छोटी छोटी चीजों में भी अपनी पत्नी की सदृशता ढूँढ रहा है। यही कारण है जो वह उत्तर-दिशा से आए हुए सुरभित पवन के स्पर्श को भी बहुत कुछ समझ रहा है। वह यह बतला रहा है कि दूर हो जाने से मेरे प्रेम में कमी नहीं हो गई; प्रत्युत वह पहले से

भी अधिक प्रगाढ़ हो गया है। अतएव तू अपने मन में किसी प्रकार की अनुचित आशङ्का को स्थान न दे।

यक्ष के निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह अपने कुशल समाचार भेजकर और अपनी विरह-व्याकुलता का वर्णन करके ही चुप नहीं रहा। उसे शङ्का हुई कि कहीं मेरी पत्नी इस सन्देश को बनावटी न समझे। प्रेमियों की दशा बड़ी ही विचित्र होती है। वे न कुछ को बहुत कुछ समझने लगते हैं और हवा में गाँठें लगाना भी वे खूब ही जानते हैं। यक्ष की अजीब अवस्था है। उसे डर है कि कहीं ऐसा न हो कि इतना आश्वासन देने पर भी यक्षिणी इन बातों पर पूर्ण विश्वास न करे। अतएव इस सन्देह का भञ्जन करना भी उसने आवश्यक समझा। इसीलिए उसे सन्देश में यह कहना पड़ा—

"और कहूँ सुनि एक दिना हियरा लगि मेरे तू सोई रही
आवत नींद न बेर भई जगि औचक रोय उठी तबही।
पूछी जु मैं धन बारहिबार तो तैं मुसकाइके ऐसे कही
देखति ही सपने छलिया तुमने एक सौति की बाँह गही।"

अब सन्देह करने का कोई कारण नहीं। यक्ष के जीवित होने का इससे अधिक विश्वसनीय प्रमाण और क्या हो सकता है?

मेघदूत के यक्ष का प्रेम पत्नी-सम्बन्धी है। वह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है—निर्दोष है। यक्ष अपने और अपनी

प्रेयसी के जीवन को अन्योन्याश्रित समझता है। यक्ष जिस तरह अपना सन्देश भेजकर पत्नी की प्राण-रक्षा करना चहता है उसी तरह, बहुत सम्भव है, उसकी पत्नी भी वियुक्त होने के कारण पति की प्राणधारणा के विषय में सशङ्क रही होगी। प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है, प्रेम से जीवन को अलौकिक सौंदर्य्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है—इसके कितने ही उदाहरण इस देश में पाये जाते हैं। गोपियों के प्रेम को आप लौकिक न समझिए। वह सर्वथा अलौकिक था। अन्यथा—

> नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा।
> ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥

उनके मुख से कभी न निकलता। अतएव प्रेम की महिमा अकथनीय है। जिसने उसे कुछ भी जाना है वह कालिदास के मेघदूत के रहस्य को भी जान सकेगा।

परन्तु, जो लोग उस रास्ते नहीं गये उनके मनोरञ्जन और आनन्दोत्पादन की भी सामग्री मेघदूत में है। उसमें आपको चित्रकूट के ऊपर बने हुए ऐसे कुञ्ज देखने को मिलेंगे जिनमें वनचरों की स्त्रियाँ विहार किया करती हैं। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे जिन्हें वर्षाऋतु में केवल वही लोग देख सकते हैं जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर जाते हैं। दशार्ण की केतकी कभी आपने देखी है? विदिशा की

वेत्रवती की लहरों का भ्रू-भङ्ग कभी आपने अवलोकन किया है? उस प्रान्त के उपवनों में चमेली की कलियों को चुननेवाली पुष्पलावियों से आपका कभी परिचय हुआ है? नहीं, तो आप मेघदूत पढ़िए। उज्जैन की यदि आप सैर करना चाहें, उदयन का यदि आप कीर्तिगान सुनना चाहें, तो आप और कहीं न जाइए। आप सिर्फ मेघदूत पढ़िए। प्राचीन दशपुर, प्राचीन ब्रह्मावर्त, प्राचीन कनखल, प्राचीन कैलास, प्राचीन अलका के दर्शन अब दुर्लभ हैं तथापि उनकी छाया मेघदूत में है। पाठक! आपने इनको न देखा हो तो मेघदूत में देखिए।

साहित्य

"सहितस्य भावः साहित्यम्" जिसमें सहित का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। इसके विषय में संस्कृत साहित्यकारों ने जो सम्मतियाँ दी हैं मैं उनमें से कुछ को नीचे लिखता हूँ। उनके अवलोकन से भी साहित्य की परिभाषा पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा 'श्राद्ध विवेककार' कहते हैं:—

एक दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले तुल्यरूप पदार्थों का एक साथ एक क्रिया में अन्वय होना ही 'साहित्य' है।[१]

शब्द-कल्पद्रुमकार की यह सम्मति है:—

मनुष्यरचित श्लोक-युक्त ग्रन्थ साहित्य है।[२]

कवीन्द्र रवीन्द्र कहते हैं:—

"सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति है—अतएव, धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है यही नहीं, वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ वर्त्तमान का, दूर के सहित निकट का अत्यन्त अन्तरंग योग साधन साहित्य व्यतीत और किसी के द्वारा सम्भव पर नहीं। जिस देश में साहित्य

१."परस्पर-सापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वम् साहित्यम्"

२."मनुष्यकृतश्लोकमयग्रन्थविशेषः साहित्यम्"।

का अभाव है उस देश के लोग सजीव बन्धन से बँधे नहीं, विच्छिन्न होते हैं"।[१]

"श्राद्धविवेक" ने साहित्य की जो व्याख्या की है कवीन्द्र का कथन एक प्रकार से उसकी टीका है। वह व्यापक और उदात्त है। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में रूढ़ि है। 'शब्द कल्पद्रुम' की कल्पना कुछ ऐसी ही है। परन्तु ऊपर की शेष परिभाषाओं और अवतरणों से यह विचार एकदेशीय पाया जाता है। साहित्य शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है वह स्वयं बहुत व्यापक है, उसको संकुचित अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। साहित्य समाज का जीवन है, वह उसके उत्थान पतन का साधन है, साहित्य के उन्नत होने से उन्नत और उसके पतन से समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है जो देश को अन्धकार रहित, जाति-मुख को उज्ज्वल और समाज के प्रभाहीन नेत्रों को सप्रभ रखता है। वह सबल जाति का बल, सजीव जाति का जीवन, उत्साहित जाति का उत्साह, पराक्रमी जाति का पराक्रम, अध्यवसायशील जाति का अध्यवसाय साहसी जाति का साहस और कर्तव्य-परायण जाति का कर्तव्य है।

एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में साहित्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

"साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव

---

१ देखिए 'साहित्य' नामक बँगला ग्रन्थ का पृ० ५०

में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के स्थान में व्यवहृत हो सकता है। इसके विचित्र रूप जातीय विशेषताओं के अथवा विभिन्न व्यक्तिगत प्रकृति के अथवा ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम हैं जिनसे एक सामाजिक वर्ग का आधिपत्य सुनिश्चित होता है और वह अपने विचारों और भावों का प्रचार करने में समर्थ होता है।"

'स्टडी आव् लिटरेचर' में विलियम हेनरी हडसन लिखते हैं:—

"जैसे प्रत्येक ग्रन्थ की ओट में उसके रचयिता का और प्रत्येक राष्ट्रीय साहित्य की ओट में उसको उत्पन्न करने वाली जाति का व्यक्तित्व छिपा रहता है, वैसे ही काल-विशेष के साहित्य की ओट में उस काल के जीवन को रूप विशेष प्रदान करनेवाली व्यक्तिमूलक और अव्यक्तिमूलक अनेक संयुक्त शक्तियाँ काम करती रहती हैं। साहित्य उन अनेक साधनों में से एक है, जिसमें काल-विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है; यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आन्दोलनों, धार्मिक विचार, दार्शनिक तर्क-वितर्क और कला में प्रकट होती है।

वह धर्मभाव जो सब भावनाओं का विभव है, वह ज्ञान-गरिमा जो गौरव-कामुक को सगौरव करती है; वह विचार-परम्परा जो विचार-शीलता की शिला है; वह धारणा जो धरणी में सजीव जीवन-धारण का आधार है; वह प्रतिभा जो अलौकिकता से प्रतिभासित हो पतितों को उठाती है; लोचनहीन को लोचन देती है और निरावलम्ब का अवलम्बन होती है; वह कविता जो सूक्ति-

समूह की प्रसविता हो, संसार की सारवत्ता बतलाती है; वह कल्पना जो कामद-कल्प लतिका बन सुधा फल फलाती है; वह रचना जो रुचिर रुचि सहचरी है; वह ध्वनि जो स्वर्गीय-ध्वनि से देश को ध्वनित बनाती है साहित्य का सम्बल और विभूति है। वह सजीवता जो निर्जीवता-संजीवनी है; वह साधना जो समस्त सिद्धि का साधन है; वह चातुरी जो चतुर्वर्ग-जननी है; एवं वह चारु चरितावली, जो जाति-चेतना और चेतावनी की परिचायिका है; जिस साहित्य की सहचरी होती है वास्तव में वह साहित्य ही साहित्य कहलाने का अधिकारी है। मेरा विचार है कि साहित्य ही वह कसौटी है जिसपर किसी जाति की सभ्यता कसी जा सकती है। असभ्य जातियों में प्रायः साहित्य का अभाव होता है इसलिए उनके पास वह सचित सम्पत्ति नहीं होती जिसके आधार से वे अपने अतीत काल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। और उसके आधार से अपने वर्त्तमान और भावी सन्तानों में वह स्फूर्ति भर सकें, जिसको लाभ कर सभ्य जातियाँ समुन्नति-सोपान पर आरोहण करती हैं, इसीलिए उनका जीवन प्रायः ऐसी परिमित परिधि में बद्ध होता है जो उनको देश-काल के अनुकूल नहीं बनने देता और न उनको उन परिस्थितियों का यथार्थ ज्ञान होने देता है जिनको अनुकूल बनाकर वे संसारक्षेत्र में अपने को गौरवित अथवा यथार्थ सुखित बना सकें। यह न्यूनता उनके प्रतिदिन अधः-पतन का कारण होती है; और उनको उस अज्ञानान्धकार से बाहर नहीं निकलने देती जो उनके जीवन को प्रकाशमय अथवा

समुज्ज्वल नहीं बनने देता। सभ्य जातियाँ सभ्य इसीलिए हैं और इसीलिए देश-कालानुसार समुन्नत होती रहती हैं कि उनका आलोकमय वर्द्धमान साहित्य उनके प्रगति-प्राप्त पथ को तिमिर-रहित करता रहता है। ऐसी अवस्था में साहित्य की उपयोगिता और उपकारिता स्पष्ट है। आज दिन जितनी जातियाँ समुन्नत हैं उनपर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि जो जातियाँ जितनी ही गौरव-प्राप्त और महिमामयी हैं उनका साहित्य भी उतना ही प्रशस्त और महान है। क्या इससे साहित्य की महत्ता भली भाँति प्रकट नहीं होती?

जो जातियाँ दिन दिन अवनति-गर्त में गिर रही हैं उनके देखने स यह ज्ञात होता है कि उनके पतन का हेतु उनका वह साहित्य है जो समयानुसार अपनी प्रगति को न तो बदल सका और न अपने को देशकालानुसार बना सका। मानवी अधिकांश संस्कारों को साहित्य ही बनाता है। वंशगत विचार-परम्परा ही मानव जाति के संस्कारों की जननी होती है। जिस जाति के सहित्य में विला-सिता की ही धारा चिरकाल से बहती आई हो, उस जाति में यदि शूरता और कर्मशीलता का अभाव प्रायः देखा जाय तो क्या आश्चर्य है? इसी प्रकार जिस जाति के साहित्य में विरागधारा प्रबलतर गति से प्रवाहित होती रहे, यदि वह संसार-त्यागी बनने का मंत्र पाठ करे तो कोई विचित्रता नहीं, क्योंकि जिन विचारों और सिद्धान्तों को हम प्रायः पुस्तकों में पढ़ते रहते हैं, विद्वानों के मुख से सुनते हैं अथवा सभा-समाजों में घर और बाहर जिनका

अधिकतर प्रचार पाते हैं उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि सिद्धांत और विचार ही मानव के मानसिक भावों का संगठन करते हैं।

इन कतिपय पंक्तियों में जो कुछ कहा गया उससे यह सिद्ध होता है कि साहित्य का देश और समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि वे साहित्य के आधार से विकसित होते, बनते और बिगड़ते हैं तो साहित्य भी उनकी सामयिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होता है। जहाँ इन दोनों का सामञ्जस्य यथारीति सुरक्षित रहता है और उचित और आवश्यक पथ का त्याग नहीं करता वहाँ एक दूसरे के आधार से पुष्पित, पल्लवित और उन्नत होता है, अन्यथा पतन उसका निश्चित परिणाम है।

भाव या मनोविकार

अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं। पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं; विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञान-पूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे, यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा; पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभाने वाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। जिस बच्चे को पहले अपने ही

दुःख का ज्ञान होता था, बढ़ने पर असंलक्ष्य-क्रम अनुमान-द्वारा उसे और बालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक विशेष प्रकार का दुःख होने लगता है जिसे दया या करुणा कहते हैं। इसी प्रकार जिसपर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचने वाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है वह भय कहलाता है। बहुत छोटे बच्चे को, जिसे यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ तो भी वह विचलित न होगा; क्योंकि वह यह निश्चय नहीं कर सकता कि इस हाथ उठाने का परिणाम दुःख होगा।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है। हानि या दुःख के कारण में हानि या दुःख पहुँचाने की चेतन वृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनुभूति से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं; बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इंद्रियाँ दूर से आती हुई क्लेश-कारिणी बातों का पता देने लगती हैं, जब हमारा अंतःकरण हमें भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है, तब हमारा काम दुःख मात्र से नहीं चल सकता; बल्कि भागने या बचने की प्रेरणा करने वाले भय से चलता है। इसी प्रकार अच्छी

लगने वाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो सुखानुभूति होती है प्रयत्न-वान् प्राणी उसी तक नहीं रह सकता; बल्कि उसकी प्राप्ति,रक्षा या संयोग की प्रेरणा करनेवाले लोभ या प्रेम के वशीभूत होता है।

अपने मूल रूपों में सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती हैं। उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेकरूपता का स्फुरण नहीं होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकाल कर हँसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचाने वाली वस्तु से लगे रहेंगे; इसी प्रकार शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे—हाथ पैर पटकेंगे, रोएँगे, चिल्लाएँगे या दुःख पहुँचानेवाली वस्तु से हटेंगे। पर हम चाहे कितना ही उछल-कूदकर हँसें, कितना ही हाथ-पैर पटककर रोएँ, इस हँसने या रोने को प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण मात्र हैं जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। इच्छा के विना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।

शरीर-धर्म मात्र के प्रकाश से बहुत थोड़े भावों की निर्दिष्ट और पूर्ण व्यंजना हो सकती है। उदाहरण के लिए कंप लीजिये। कंप शीत की संवेदना से भी हो सकता है, भय से भी, क्रोध से भी और प्रेम के वेग से भी। अतः जब तक भागना छिपना या मारना-झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने ले लिया है। मुँह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार की

इच्छाओं का पता देकर भावों की व्यंजना किया करते हैं। इसी से साहित्य-मीमांसकों ने अनुभाव के अंतर्गत आश्रय की उक्तियों को विशेष स्थान दिया है।

क्रोधी चाहे किसी की ओर झपटे या न झपटे उसका यह कहना ही कि 'मैं उसे पीस डालूँगा' क्रोध की व्यंजना के लिए काफ़ी होता है। इसी प्रकार लोभी चाहे लपके या न लपके उसका यह कहना ही कि 'कहीं वह वस्तु हमें मिल जाती!' उसके लोभ का पता देने के लिए बहुत है। वीररस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साह-पूर्ण उक्तियों-द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रण-क्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं। बात यह है कि भावों-द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है उतना अनुभाव कहलाने वाले व्यापारों-द्वारा नहीं। क्रोध के वास्तविक व्यापार तोड़ना-फोड़ना, मारना-पीटना इत्यादि ही हुआ करते हैं; पर क्रोध की उक्ति चाहे जहाँ तक बढ़ सकती है। 'किसी को धूल में मिला देना, चटनी कर डालना, किसी का घर खोद कर तालाब बना डालना' तो मामूली बात है। यही बात सब भावों के संबंध में समझिए।

समस्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों के तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष

प्रकार के संघटन में ही समझना चाहिए। लोक-रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन—सब में इससे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम में लाए गए हैं उसी प्रकार किसी संप्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

शासन मात्र में—चाहे धर्म-शासन हो, चाहे राज-शासन या संप्रदाय-शासन—मनुष्य-जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दंड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज-शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म-शासन और मत-शासन चलते आ रहे हैं। इनके द्वारा भय और लोभ का प्रवर्त्तन उचित सीमा के बाहर भी प्रायः हुआ है और होता रहता है। जिस प्रकार शासक-वर्ग अपनी रक्षा और स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी इनसे काम लेते आए हैं उसी प्रकार धर्म-प्रवर्त्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी। शासक-वर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आये हैं। मत-प्रवर्त्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आए हैं। एक जाति को मूर्त्ति-पूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्त्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है। एक संप्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण

करते देख दूसरे संप्रदाय के प्रचारक ने उनके दर्शन तक में पाप लगाया है। भाव-क्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गंदा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।

शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है। उनके मूल या मर्म तक उसकी गति नहीं होती। भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखने वाली शक्ति कविता है जो धर्म-क्षेत्र में भक्ति-भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संगम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। इस संगम के लिये प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। जिस प्रकार ज्ञान नर-सत्ता के प्रसार के लिये है, उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौंदर्य के साथ हो जायगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा। काव्य-योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है। सच्चे कवियों की वाणी बराबर यही पुकारती आ रही है—

विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ।
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव ॥ —ठाकुर

तुलसीदास

हिंदी भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखानेवाले और हिंदी साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठानेवाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानन्द की शिष्य-परंपरा में थे। अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गये हैं, और आज तीन सौ वर्षों में भी उनकी कीर्ति-श्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है।

गोसाईं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ और स्वर्गवास संवत् १६८० ठहरता है। यद्यपि गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् निस्संदेह १६८० था पर उनके जन्मकाल के संवत् में डाक्टर ग्रियर्सन ने शंका की है और जनश्रुतियों के आधार पर उसे १५८९ माना है। तुलसीदास युक्त प्रांत के बाँदा जिले में राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खान-खाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिससे इनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना का पूरा विवरण दे

कर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर-उधर घूमने-फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामी जी ने रामचरित मानस के प्रारंभ में किया है। संभवत: उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामी जी के अध्यापक शेष सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानन्द के आश्रम में रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा दीक्षा पाकर गोस्वामी जी भी उसी मत के अवलंबी बने। उनका अध्ययन-काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामी जी युवावस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उन के विवाह की बात कही जाती है।

गोस्वामी जी के विवाह के संबंध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाती-पाँति न चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परन्तु उनके विवाह और विवाहित जीवन के सम्बन्ध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त हो कर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेमविह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर

छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और बेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामी जी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने देने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है—

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामी जी साधु बन गए और घर छोड़ कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था। उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे जहाँ वे वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा वृन्दावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी इन्होंने यात्रा की थी और यहीं-कहीं इनकी "कृष्णगीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे, और बड़े बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इन की भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना

प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरित-मानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधु·सूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

रामचरितमानस लिख चुकने के उपरांत गोस्वामी जी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्र में आकर आत्मनिवेदन की ओर खिंचे। उनकी विनय-पत्रिका इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न सम्बन्ध पर ज़ोर देकर गोस्वामी जी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य-देव राम थे, तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर गोस्वामी जी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टर-

पन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करने वालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था पर कहा जाता है कि महावीर जी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी। परन्तु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मतविभेद था। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसार—

संबत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परन्तु बेणीमाधवदास के गुसाईं चरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामी जी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश में तुलसी-दासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्ण-पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है "सावन सुक्ला सप्तमी" को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक-प्रभाव भारतीय जनता

पर है, उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सब से बड़ा कारण है कि उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नाना पुराण निगमागम सम्मत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामी जी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परन्तु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीक रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाया स्पष्ट देख पड़ती है। उनके राम-चरितमानस में मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों विशेषतः अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुसुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामी जी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामी जी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर-घर है।

गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सब से अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एक मात्र धर्म-ग्रन्थ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेश-मात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरित मानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अन्त-र्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चहिए, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु-भाई, आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता, उनकी सब रीति-नीति वर्ण-आश्रम व्यवस्था तुलसी-दास जी को सब स्वीकार हैं। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के संकलित संस्क-रण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक

दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनन्दमग्न होकर हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनन्त कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

गोस्वामीजी के रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामलला नहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्य-सन्दीपनी, पार्वती मंगल और जानकी मंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह-सरोज में किया गया है परन्तु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रन्थों में सम्मिलित हो गई हैं तथा कुछ सन्दिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रन्थ गोस्वामी जी रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा बेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है; क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सकते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सच्चे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी बेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित के बाहर जाकर भी उन्होंने मानव समाज के लिए हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृङ्खलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निंदा करके किया है, राम-चरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दंडित करके की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामी जी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है,

स्वांत:सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करनेवाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्‌गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्‌भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें बाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परन्तु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किये हैं। हनुमान के सीता की खोज में लंका पहुँचने की कथा तो बाल्मीकि रामायण में भी है;

परंतु सीताजी की शोकविह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझ कर उठा लेना गोस्वामीजी की उद्भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य चमत्कार-पूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी की आत्मग्लानि दिखाने में गोस्वामीजी को स्वतन्त्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति उन्हें है, उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है, परन्तु गोस्वामीजी ने चित्रकूट वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबन्ध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण के आधार पर जो ग्रंथ अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे गए, उनमें और गोस्वामीजी की रचनाओं में महान् अंतर है। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकि रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

जायसी ने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छन्दों में अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के उपरांत

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई छन्दों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अत: उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परन्तु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे; अत; उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके राम-चरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में व्रज भाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह व्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने व्रज भाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और व्रजभाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रन्थों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छन्द-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने

जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छन्द-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरित के लंका कांड में जो युद्ध वर्णन है उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छन्दों में कथा कही गई है जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में व्रज भाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक कविता आरम्भ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामी जी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामी जी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम स्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टत: उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छन्दों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबन्ध कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अन्तिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रन्थ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्म-ग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिन्दू धर्म और हिंदू संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यश:-प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के

हृदयपटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फल-स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फूल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फूल-स्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के फूलस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्य-कार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदास जी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकास की परंपरा बंद हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास जी में हिंदी कविता की सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरमसीमा तक पहुँच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामी जी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामी जी के पीछे उनकी नकल करने वाले तो बहुत

हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिन्दी कविता के कीर्तिमंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामी जी को हिंदी कवियों की रत्नमाला का सुमेर मानकर ही पूर्व कथित साहित्य विकास के सिद्धांत की समीक्षा करनी पड़ेगी।

क्रीडास्थल

जानते हो, नींद के खेलने का स्थान कहाँ है ? बच्चों की उन खिलाड़ी आँखों में जो समदर्शी हैं और जिनमें अलौकिक प्रेम भरा है, जो समग्र विश्व को स्वर्गीय दृष्टि से देखती हैं और जिनसे आनन्दमय मुसकराहट की किरणें सदा फुरा करती हैं।

जानते हो, पवन ने खेलने के लिए कौन स्थान चुना है ? उन उपवनों में जहाँ उसके पहुँचते ही हर एक कली खिल उठे और उसे अपने आमोद से भर दे। जहाँ वह मधुपान से झूमता हुआ और लताओं के अटपटे जालों में अटकता हुआ एवं उनसे पुष्पाञ्जलियाँ पाता हुआ चल सके। जहाँ भ्रमरावली उसके आगमन से चञ्चल होकर उसका गुण गान करने लगे और जहाँ कमलरजोरञ्जित सरोवर के कण उड़ उड़ कर उसे शीतल एवं अनुरक्त करें।

जानते हो, चन्द्र ने अपने खेलने का कौन स्थान बनाया है ? उस निखरे नीलाकाश में जिसमें से उसका सौन्दर्य फटा पड़ता है। जहाँ वह जगमगाती तारकाओं की प्रभा मन्द करता है। जहाँ तक पहुँचने का उद्योग चकोर बारंबार करता है पर न पहुँच कर आशा के सुख से जीवन धारण किये रहता है। और जहाँ से वह संसार मात्र पर अमृत बरसाता है।

नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है। जहाँ वे एक चट्टान से कूद कर दूसरी पर जाती हैं। जहाँ वे ढोकों के संग खेल कूद मचाती हैं और छींटें उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं। जहाँ वे अपनी ओर झुकी लतालियों का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं। जहाँ उनके बाल संघाती क्षुप उन्हें अपनी अंकुराङ्गुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचक कर तथा बङ्क होकर बढ़ जाती हैं। जहाँ वे लड़कपन के भोले भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं। और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूद कर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनती हैं।

और जानते हो, मेरे मानस ने अपने खेलने का स्थान कहाँ रक्खा है ? जिनका विलास-स्थान भी मानस ही है उन चरण-कमलों में। जिन्हें मेरा मानस सदैव अपनी तरङ्गों से चूमा करे। जिनके मधुर मधुपान से यह छका रहे। जिनके पराग से यह पङ्किल बने और जिनकी रतनारी छाया से यह रत्नाकर की छवि को मन्द करे।

बिहारी का कवित्व और व्यापक पाण्डित्य

कवि के विषय में किसी विद्वान् का कथन है कि "कवि प्रकृति का पुरोहित है"—जिस प्रकार पुरोहित के लिये यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति रिवाजों का अन्तरङ्ग ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्त्व तक नहीं पहुँचती—तह तक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकाल सकती—जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक हो और सैकड़ों बार की देखी भाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखाने वाली हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। "अज्ञेयमीमांसा" करने बैठना, आकाश के तारे तोड़ने दौड़ना, कवि का काम नहीं है। कभी कभी कवि को ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकों का काम है। कवि का काम इससे भी बड़ा गहन है। केवल व्याकरण और छन्दशास्त्र के नियमों से अभिज्ञ होकर, वर्णमात्रा के काँटे में नपी-तुली पद्यरचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आजकल प्रायः समझा जाने लगा है।

सूक्ष्मदृष्टि से प्रकृति के पर्यवेक्षण की असाधारण शक्ति रखने के अतिरिक्त विविध कलाओं और अनेक शास्त्र का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है, जैसा कि कविता-मर्मज्ञों ने कहा है—न ऐसा कोई शब्द है, न ऐसा अर्थ है, न ऐसा कोई न्याय है और न ऐसी कोई कला है, जो काव्य का अङ्ग न हो, इसलिए कवि पर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है ! इस सब भार को अपनी लेखनी की नोक पर उठाने की जो शक्ति रखता है, वही महाकवि है।

यह सब बातें (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) बिहारी की कविता में प्रचुर परिमाण में पाई जाती हैं। सतसई पढ़ने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति-पर्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। गणित, ज्योतिष, इतिहास-पुराण, नीति-शास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था। जैसा कि आगे के अवतरणों से सिद्ध है।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पड़ती थी। यही नहीं, जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती, वहाँ भी वह पहुँचती थी। "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि" इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोकग्राही पदार्थ पर पड़कर ही अपने असली रूप में प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं, परन्तु बिहारी की अद्भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ

पर भी पड़ा, उसे ही अपने रूप में चमका कर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकण्डे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की पर-प्रतारणा, ज्योतिषी का ग्रहयोग, सूम की कंजूसी, जिसे देखिये वही कविता के रंग में रँगा चमक रहा है।

इस जगह सब के उदाहरण देना कठिन है, बात बहुत बढ़ जायगी, इसलिए इस प्रकार के कुछ नमूनों से ही सन्तोष करना होगा। किसी काव्य पर कुछ लिखते हुए प्रारम्भ में उस काव्य से सुन्दर सूक्तियों के नमूने देने की रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें—इस प्रकरण में बानगी के तौर पर कुछ सूक्तियों के नमूने सतसई से उद्धृत करें—पर इस इच्छा से विवशतावश विरत होना पड़ा। सतसई में किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है! इस 'खाँड की रोटी' को जिधर से तोड़िए उधर से ही मीठी है। इस जौहरी की दूकान में सब ही अपूर्व रत्न हैं। बानगी में किसे पेश करें! एक को ख़ास तौर पर आगे करना, दूसरे का अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टि में हम समझते हैं, अपराध है।

रुचिभेद से किसी को कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसी को शब्दालंकार पसंद है, किसी को अर्थालंकार, कोई वर्णनवैचित्री पर रीझता है तो कोई सादगी

पर फ़िदा है, कोई रस पर मरता है तो कोई बन्धसौष्ठव पर जान देता है। कोई-पदार्थ का उपासक है तो कोई पदावलि के पाँव पूजता है—जिस प्रकार किसी युवति को देखकर युवा उसके रूप को सराहते हैं; जुलाहे—वस्त्र के व्यापारी—वस्त्र की तारीफ़ करते हैं और सर्राफ़ उसके आभूषणों पर परख की नज़र डालते हैं।

बिहारीलाल के सम्बन्ध में गोस्वामी श्रीराधाचरणजी की इस उक्ति में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि—

"यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध और शब्द-रचना इतनी मधुर है कि सूरदास को छोड़कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है। सतसई के सम्बन्ध में व्रजभाषा के किसी पुराने पारखी की यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

"व्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि-बिसाल।
सबकी भूषन सतसतई रची बिहारीलाल॥"

व्रजभाषा के मर्मज्ञों का विदग्ध हृदय इस कथन की सत्यता

का साक्षी है। व्रजभाषा को सिर्फ दूर से सूँघकर परखने वाले कुछ महापुरुषों की दिव्य दृष्टि में "इसकी भाषा वैसी बढ़िया" चाहे न हो, पर भाषा के जौहरी भाव से भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषा पर लट्टू हैं। इस समय जब कि खड़ी बोली के जोशीले नौजवानों की ब्रिगेड ने व्रजभाषा के 'बिज़न' का बिगुल बजाकर क़तलेआम मचा रखा है, खड़ीबोली की किरातपुरी के तोते तक जब इसे देखकर 'दारय' 'मारय' 'भ्रस' 'पिब', कहकर चिल्ला रहे हैं, तब व्रजभाषा के सौष्ठव की दुहाई देना, नक्कारखाने में तूती की आवाज़ पहुँचाने के बराबर है। व्रजभाषा के मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि सतसई की भाषा कैसी कुछ है, और जो नहीं जानते वे किसी के समझाने से भी क्या समझेंगे?

गणित का ज्ञान—

कहत सबै बैंदी दिये आंक दसगुनो होत।
तिय लिलार बैंदी दिये अगनित बढ़त उदोत॥

× × ×

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत॥

गणित के मूल सिद्धान्त का कविता के रूप में कितना मनोहर निदर्शन है। गणित के सिद्धान्त से अपने मतलब की बात कितने अच्छे ढंग से सिद्ध की है! बिन्दु (शून्य) देने से अङ्क दसगुना हो जाता है। और तिरछी बिकारी लगाने से दाम के रुपये बन जाते हैं। यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना कवि

ही जानता है। गणित-शास्त्र में दशगुणोत्तरा संख्या रखने की चाल है। इकाई को दस से गुनकर दहाई और उसे दस से गुनकर सैकड़ा (शत) इत्यादि दशगुणोत्तर संख्या बनाते हैं। पर यहाँ बिहारीजी के गणित में कुछ दूसरा ही चमत्कार है—यहाँ दश-गुणित नहीं असंख्य-संख्यागुणित अङ्क (उद्योत) पैदा हो जाते हैं! यह कवि की प्रतिभा का ही काम है।

ज्योतिष का चमत्कार—

मङ्गल बिन्दु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन-जगत ॥

इस सोरठे में बिहारी ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का परिचय बड़े मनोहर रूप में दिया है। ज्योतिष का सिद्धान्त है कि जब बृहस्पति और मङ्गल के साथ, चन्द्रमा एक राशि पर आता है तो देश-व्यापक वृष्टि होती है—

ज्योतिष के इस तत्त्व को कवि ने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषों को जितना आनन्द इस भौतिक वृष्टि से होता है, उससे कहीं अधिक विदग्ध सहृदयों को इस कवितामृत वर्षा से होता है।

माथे पर लगी लाल बेंदी, मंगल है। मुख चन्द्रमा है। उस पर केसर का (पीला) तिलक बृहस्पति है। इन सब ने एक नारी—(वर्षा नाड़ी)—स्त्रीराशि—में इकट्ठे होकर नेत्ररूप संसार को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया।

इतिहास-पुराण-परिचय

बिरह-बिथा-जल-परस बिन बसियत मो हिय-ताल ।
कछु जानत जलथंभ बिधि दुरजोधन लौं लाल ॥

दुर्योधन को 'जलस्तम्भनविद्या' सिद्ध थी। उसी के प्रभाव से वह युद्ध के अन्त में कुछ समय तक तालाब में छिपे बैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कविता में आकर कितनी चमत्कृत हो गयी है। कोई विरहिणी कहती है—

—हे लाल ! दुर्योधन के समान तुम भी कुछ जलस्तम्भविधि जानते हो, तभी तो, विरह-व्यथा-जल के स्पर्श से बचे रहकर मेरे हृदय-सरोवर में (आराम से) बैठे हो ? हृदय में रहते हो पर उसमें भरे विरह-व्यथा के जल का—विरह-व्यथा का—तुम्हें स्पर्श भी नहीं होता ! बड़े बेपीर हो। (चिकने घड़े हो !)

नीति-निपुणता

दुसह दुराज प्रजानि कौं क्यौं न बढ़ै दुख दंद ।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रबि चंद ॥

जब 'दुअमली' होती है—प्रजापर दुहरे शासकों का शासन होता है—तो प्रजा के दुःख बेतरह बढ़ जाते हैं। संसार के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फ़कीर एक गुदड़ी में गुज़ारा कर लेते हैं, पर दो राजा एक 'रजाई' में नहीं रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कहीं दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ है, प्रजा पर विपत्ति के बादल छा गये हैं—प्रजा-पीड़न पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

बिहारी ने यह बात एक ऐसे दृष्टान्त से समझायी है जिसे सब कोई सदा देखते हैं, पर नहीं समझते कि क्या बात है। अमा-वस के दिन अन्धकार के आधिक्य का क्या कारण है ? यही दुअमली। उस दिन आकाश के दो शासक—सूर्य और चन्द्र—एक राशि में इकट्ठे होते हैं। जिस से संसार में आदर्श अंधकार छा जाता है !

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि [रि] छोड़िये खोटे ग्रह जप दान ॥

संसार में सीधे सच्चे और भले आदमी का गुजारा नहीं, उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपञ्ची की सब जगह पूजा होती है, पर-पीड़न में जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उस का आदर होता है, जिसने छलबल से दूसरों को दबाकर अपनी धाक बिठा ली, सिक्का जमा लिया, उसी का लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे, एक कोने में पड़े सड़ते रहते हैं, उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं—जिन से किसी को हानि पहुँच सकती है—उन्हीं के नाम पर जप और दान किया जाता है। भले को भला कहकर ही छोड़ देते हैं। अजी यह तो स्वभाव से ही साधु हैं, माधो के लेने में न ऊधो के देने में !

दार्शनिक तत्व

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सौ।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ" ॥

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद' के समान "प्रतिबिम्बवाद"

वेदान्त शास्त्र का एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठे में कवि ने वेदान्त के "प्रतिबिम्बवाद" को कविता के साँचे में ढालकर कितना कमनीय रूप दे दिया है। संसार की असारता दिखाने के लिये काँच का दृष्टान्त यहाँ कैसा चमक रहा है, इस में संसार की असारता किस प्रकार पड़ी झलक रही है !

यह जगत् काँच के शीशे की तरह कच्चा—क्षणभंगुर है। ज्ञान की ज़रा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है। प्रतिबिम्ब-ग्राही होने से इसमें वही एक ब्रह्म प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है, यह सब उसी का विराट् रूप है, जो देख रहे हो। नाना-भाव की पार्थक्य-प्रतीति का कारण नाम, रूप, मिथ्या है।

अज्यौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तनि के संग॥

संसार-सागर से पार होने के लिए जीवन्मुक्त पुरुषों की संगति भी एक मुख्य उपाय है। यही बात इस दोहे में एक मनोहर श्लेष में लपेटकर निराले ढंग से कही गई है। 'तरौना' कान के एक आभूषण का नाम है, जिसे तरकी या टेढ़ी भी कहते हैं। 'बेसर' नाक का प्रसिद्ध भूषण (नथ) है। इस दोहे में कवि ने श्लेष बल से बड़ा अद्‌भुत चमत्कार दिखलाया है। कहते हैं कि श्रुति—(कान) रूप एक अंग का सेवन करने वाला तरौना, अबतक "तर्‌यौना" ही है और "मुक्तनि के संग बसि' मोतियों के साथ रहकर 'बेसर' ने 'नाकबास' प्राप्त कर लिया—नाक में स्थान पा लिया। इसका दूसरा 'प्रतीयमान' अर्थ है—कोई किसी मुमुक्षु से कह रहा है कि

मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की संगति करो, श्रुति-सेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किन्तु इससे शीघ्र नहीं तरोगे। देखो यह कान का तरौना श्रुति-रूप एक अंग का कब से सेवन कर रहा है, पर अब तक 'तर्‌यौ नाही रह्यौ'—तरा नहीं, तरौना ही बना है। और बेसर ने 'मुक्तनि के संग बसि'—मुक्तों की संगति पाकर 'नाक-बास लह्यौ'—बैकुण्ठ—सालोक्य-मुक्ति—प्राप्त कर लो।

अथवा कोई किसी केवल—श्रुति-सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि एक अङ्ग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अब तक नहीं तरे—विचार-तरंगों में ग़ोते खा रहे हो, और वह देखो अमुक व्यक्ति ने मुक्तों की सत्संगति 'बेसर' अनुपम—नाकवास बैकुण्ठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति—प्राप्त कर ली।

दोहे के 'तर्‌यौना' 'श्रुति' 'अंग' 'नाक' 'बेसर' 'मुक्तनि' ये सब पद श्लिष्ट हैं।

संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी भगवद्भक्तों की सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझायी है। पर इस चमत्कार-जनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारी अपने कविता-प्रेमियों की नब्ज़ पहचानते हैं, वह जानते हैं कि "अपने बावले" को कैसे समझाया जाता है—रसलोलुप कविताप्रेमी सत्संगति की महिमा किस रूप में सुनना पसन्द करेंगे। रात-दिन जो चीज़ें प्रेमियों की नज़र में समायी रहती हैं उन्हीं की ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व

समझाना चाहिए। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक-रोगी कब कान देता है—सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर-ब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ॥

इस दोहे में कवि ने परम सूक्ष्म कटि को अलख परब्रह्म की उपमा देकर कौतूहल-जनक कमाल किया है। पूर्वार्द्ध में ब्रह्मदर्शन के उपायों का निर्देश करनेवाली एक सुप्रसिद्ध श्रुति को किस मार्मिकता से निराले ढंग पर व्यक्त किया है। सुनिये, वह श्रुति यह है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"।

—यह भगवती मैत्रेयी के प्रति याज्ञवल्क्य महाराज का उपदेश है कि, पहले—"अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "नित्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से आत्मा का श्रवण करे—आत्मा कैसा है, यह सुने—फिर 'आत्मा ऐसा हो सकता है या नहीं', इसका अनुमान से विचार करे। तदनन्तर उस निर्णीत स्वरूप का निरन्तर ध्यान करे। यह संक्षेप में ब्रह्म-साक्षात्कार का प्रकार है। उक्त श्रुति की ही व्याख्या एक अन्य श्लोक में की गई है, जिसका शब्दार्थ इस प्रकार है—

"श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के सम्बन्ध में सुना, अनुमान के द्वारा उसके सच्चिदानन्द-स्वरूप को जाना, निरन्तर ध्यान द्वारा किसी प्रकार इस तत्त्व को बुद्धि में ठहराया। फिर भी ब्रह्म ऐसा अलक्ष्य-(अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता।"

'कटि' (कामिनी की कमर) भी कुछ ऐसी ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति—शब्दप्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,— "सनम ! सुनते हैं तेरे भी कमर है"—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है, तो यह शरीर-प्रपञ्च—स्तन-शैल, मुख-चन्द्र, आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं ? (ब्रह्म नहीं है तो यह विश्व-प्रपञ्च—हिमालयादि पर्वत, चन्द्रादि ग्रहमण्डल—किस में स्थित हैं—कल्पित हैं)—इसलिए कटि-ब्रह्म अवश्य है। इस तत्त्व को—कटि-ब्रह्म के सत्तास्वरूप को—निरन्तर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धि में ठहराते हैं। फिर भी "अलख लखी नहीं जाय"-उसका साक्षात्कार नहीं होता, नज़र नहीं आती, दिखलायी नहीं देती—"कहाँ है, किस तरफ़ को है, किधर है"—यही कहते रह जाते हैं !

"सूछम कटि परब्रह्म सी अलख लखी नहीं जाय।"

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है ! परब्रह्म उपमान। कटि उपमेय। लखी नहीं जाय, साधारणधर्म। 'सी' या 'लौं' वाचक। देखा वाचक ! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है !

साहित्य और धर्म

साहित्य पर धर्म का प्रभाव सदैव विद्यमान रहता है। साहित्य ही क्यों, भाषा भी धर्म के प्रभाव से बच नहीं सकती। साहित्य में जाति के उच्चतम भाव प्रकट होते हैं और उन भावों की अभिव्यक्ति का साधन भाषा ही है। किसी भी जाति को लीजिए, उसके धार्मिक विश्वासों में ही उसकी श्रेष्ठ भावनाएँ रहती हैं। साहित्य के आदर्श हमारे धार्मिक आदर्श ही होते हैं। विचारणीय यह है कि साहित्य में जो चिरंतन भाव पाया जाता है, उसका उद्गम कहाँ से हुआ ? हमारे धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसके सिवा भिन्न-भिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न आदर्श होते हैं। परंतु धर्म का वह सनातन रूप कैसा है, जो सभी देशों और सभी युगों में विद्यमान रहता है ? मनुष्य-समाज का विकास होता रहता है, और उसके धर्म और साहित्य का भी विकास होता है। इस विकास में धर्म का कौन-सा सनातन भाव सदैव विद्यमान रहता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह विचार करना चाहिए कि धर्म का विकास किस प्रकार होता है ?

विकास का मूल-सिद्धान्त यह है कि बाह्य अवस्था के साथ आभ्यंतरिक अवस्था का सामंजस्य करके प्रकृति का क्रमशः विकास होता है। जितना ही यह सामंजस्य विस्तृत और पूर्ण होगा, उतना ही प्रकृति का विकास होगा। संसार में उन्नति का मूल-मंत्र

यही सामंजस्य-विधान की चेष्टा है। अंतर्जगत् और बाह्य जगत्, दोनों का योग ही विश्व-प्रकृति है। उसमें ये दोनों ही सत्य हैं, और दोनों एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इन दोनों में जैसा संबन्ध स्थापित होता है, उसी से विश्व में विकास और परिवर्तन होते हैं। प्रकृति के सभी कार्यों में सत्य की सत्ता है। विश्व के विकास में भी सत्य है। अभी तक संसार का जैसा विकास होता गया है, वह अमूलक नहीं है। उच्च-नीच का भेद अवश्य है। बाह्य जगत् और अंतर्जगत् में जो संबन्ध स्थापित होता है, वह जितना ही पूर्ण होता है, उतना ही उत्कृष्ट उसका विकास भी होता है। प्राणि-जगत् में बाह्य अवस्था के लिए निकृष्ट जीवन के शरीर-यन्त्र जितने उपयोगी हैं, उससे अधिक उपयोगी उत्कृष्ट जीवन के शरीर-यंत्र हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस संबंध की पूर्णता के ऊपर ही विकास का उत्कर्ष और अपकर्ष निर्भर है। इसी नियम के अधीन जगत् में भिन्न-भिन्न जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और उन्नति होती है। शारीरिक, मानसिक और नैतिक, सभी अवस्थाओं के विकास में यह उपयोगिता न्यूनाधिक भाव से रहती है। बाह्य अवस्था हमारी प्रकृति पर सदैव अपना प्रभाव डालती और उसी के अनुरूप हमें बनाना चाहती है। यह प्रभाव प्रकृति में जैसे प्रतिफलित होता है, वैसा ही उसका विकास होता है। अतएव हमारी प्रकृति के विकास में बाह्य अवस्था प्रवर्तक के रूप में वर्तमान रहती है। इसी से बाह्य अवस्था पर ध्यान रखकर धर्म के भी विकास की व्याख्या करनी होगी। हम लोगों का उन्नत इंद्रिय-समूह, उत्कृष्ट सहज बुद्धि,

पवित्र नैतिक बल, ये सब साधारण जीवन-व्यापार के ही परिणाम हैं। यदि हम किसी परिणाम अथवा परिवर्तन को समझना चाहते हैं, तो हमें बाह्य विषय के साथ उसका संबंध देखना होगा। इसी संबंध-सूत्र से विकास के समस्त रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। जगत् के सभी परिणामों का मूल अतीत में विद्यमान है। अतीत के संबंध-बंधन से ही जीवन के समस्त व्यापार शृंखला-बद्ध हैं। इस प्रकार हम सभी परिणामों में विकास की अनवच्छिन्न धारा—भूत काल से वर्तमान काल तक—देख सकते हैं। किसी भी परिणाम का यथार्थ रूप देखने के लिए हमें निम्न-लिखित बातों पर ध्यान देना पड़ेगा—(१) उसके मूल का बाह्य विषय, (२) उसके विकास की धारा, (३) उसका वर्तमान रूप। इसी रीति से अनुसंधान करके विद्वानों ने प्राकृतिक विज्ञान की रचना की है। परंतु मनुष्य का जो नैतिक और धार्मिक विकास हुआ है, उसके मूल में बाह्य विषय को उपलब्ध करना सहज नहीं है। इसी से इसके संबंध में कोई भी परिष्कृत सिद्धांत निश्चित नहीं हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर ने यह स्थिर किया है कि पृथ्वी पर ऐसा कोई भी विकास नहीं है, जो बाह्य विषय-मूलक न हो। प्रकृति के किसी भी विभाग में ऐसा कोई भी परिणाम प्रत्यक्ष नहीं है, जिसका अवलंब बाह्य विषय न हो। किंतु नैतिक तथा धार्मिक भाव प्रत्यक्ष नहीं है। इसी कारण बाह्य विषय से उनका संबंध ढूँढ़ना कठिन हो जाता है। परंतु प्रत्यक्ष विषय के दृष्टांत से मूल का अनुसंधान करने पर बाह्य विषय से उनका संबन्ध लक्षित होने लगता है।

आदि-काल से मनुष्य-समाज में नीति और धर्म-ज्ञान का परिचय पाया जाता है। पृथ्वी पर ऐसी कोई असभ्य जाति नहीं हुई, जिसमें इन दोनों भावों का अंकुर न देखा गया हो। अब विचारणीय यह है कि पहले किस बाह्य विषय के उपलक्ष्य से इन दोनों संस्कारों की उत्पत्ति हुई? नैतिक विकास का कारण है समाज की स्थिति और उन्नति। इन भावों का लोप हो जाने से समाज में उच्छ्ंखलता फैल जाती है। समाज के कल्याण के लिये मनुष्यों की कुछ मनोवृत्तियाँ अनुकूल हैं, और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल मनोवृत्तियों की स्फूर्ति से मनुष्य का नैतिक जीवन संगठित होता है। एक कारण और भी है। वह है अपार्थिव जगत् की भावना। सर्व साधारण का यह विश्वास चिरंतन है कि मानव-जीवन की समाप्ति यहीं नहीं होती। इस लोक के बाद भी कोई परलोक है। परलोक की इस धारणा से नैतिक ज्ञान में एक परिपूर्णता आ गई है। परलोक का अस्तित्व न मानने से हमारा जीवन लक्ष्य-हीन प्रतीत होने लगता है। उस समय यह जान पड़ता है कि वर्तमान ही एक-मात्र जीवन का सार है, और जब जीवन एक क्षणस्थायी, आकस्मिक पार्थिव व्यापार हो जाता है। परलोक का अस्तित्व मानने से कर्म-फल भी संभव होता है। उसी से मानव-जीवन नीति के उच्च शिखर की ओर क्रमशः आकृष्ट होता जाता है। इस नीति-सोपान पर आरोहण कर अंत में ईश्वर के साथ योग स्थापित करना पड़ता है। सभी नीतियों के ऊपर ईश्वर का आसन है। नीति ईश्वर-प्रदत्त है। इसी से मनुष्य उसे नत-मस्तक हो स्वीकार

कर लेता है। मतलब यह कि धर्म-ज्ञान के तीन उपादान हैं—(१) ईश्वर-विश्वास, (२) अदृष्ट लोक पर विश्वास, और (३) पाप-और पुण्य की धारणा।

फ़िस्के नामक विद्वान् ने धर्म-विज्ञान के विकास का वर्णन इस प्रकार किया है—पृथ्वी के इतिहास में उस समय एक विशेष परिवर्तन काल उपस्थित हुआ। जब मानव-जीवन में प्रेम का आविर्भाव हुआ, तब मनुष्य की विकासोन्मुख आत्मा में पाप और पुण्य की धारणा का उद्गम होने लगा। परिवार का संगठन होने लगा। समाज-बंधन का आरम्भ हुआ। निराकार भावों ने साकार भाषा का रूप ग्रहण किया। इसी समय मनुष्य का विकास उच्च-तम अवस्था की ओर अग्रसर होने लगा, और शारीरिक विकास के साथ सभ्यता का संयोग हुआ। इसी के बाद हम मानवीय आत्मा को, संसार के अस्थिर व्यापार छोड़ कर, अज्ञात रूप से एक नित्य सत्ता की ओर प्रयाण करते हुए देखते हैं। अदृष्ट जगत् से एकता स्थापित करके मनुष्य अपने अंतर्गत भावों को निश्चित करने की चेष्टा करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि उसके मानसिक भाव पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सके थे। उनकी अभिव्यक्ति में विलक्ष-णता भी थी। परन्तु मुख्य बात यह है कि जीवन के प्रारम्भ काल में ही मनुष्य एक अतींद्रिय नैतिक जगत् से अपना संबंध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। यह बात उपेक्षणीय नहीं है; क्योंकि मानव-समाज के विकास में इसी धार्मिक भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यदि जीवन के आदि-काल में इस धार्मिक भावना

का उद्गम न होता, तो मनुष्य-समाज किस दशा को पहुँच जाता, इसका अनुमान तक हम नहीं कर सकते। यह सभी को स्वीकार करना पड़ता है कि मानव-समाज के अस्तित्व का मुख्य कारण धर्म है। तभी तो कहा गया है—"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।"

मानव-जाति के आदि-काल से ही उसके जीवन में ईश्वर का अस्तित्व, अदृष्ट जगत् की विद्यमानता और पाप-पुण्य की धारणा, ये तीनों भाव काम करने लगे थे। इनसे उसके जीवन का अच्छेद्य संबंध है। सभी धर्मों के इतिहास में यही बात पाई जाती है।

अब विचारणीय यह है कि क्या अदृष्ट जगत् की यह भावना सर्वथा निस्सार है। जब मानव-जीवन के प्रारम्भ-काल से ही मानवीय आत्मा और अदृश्य जगत् में संबंध हो गया है, तब यह कहना कि इसमें सिर्फ ज्ञाता ही सत् है और ज्ञेय असत्, हमारी समझ में भ्रम है।

अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर प्रत्यक्ष तो है नहीं, फिर एक अप्रत्यक्ष के लिए मनुष्य साधना में क्यों प्रवृत्त होता है? जो अदृष्ट है, जो अनुभव-गम्य नहीं, उसके लिए वह इतना प्रयास क्यों स्वीकार करता है? अदृष्ट जगत् का अस्तित्व मानकर उसके लिए वह क्यों इतना व्याकुल होता है? विद्वानों का कथन है कि ससीम मनुष्य ने असीम को पाने के लिए जन्म लिया है। अपूर्ण मनुष्य पूर्ण पुरुष में ही जाकर संपूर्णता प्राप्त करता है। अनंत की आकांक्षा स्वाभाविक है। मानवात्मा की स्वाभाविक गति अनंत की ओर

है। अनंत की आकांक्षा से ही मनुष्य में धर्म-भाव की उत्पत्ति होती है। मैक्समूलर ने इसी सिद्धांत की पुष्टि में लिखा है कि सभी धर्मों के मूल में अनंत की धारणा विद्यमान है। जिस प्रकार 'ज्ञान' इंद्रिय-ग्राह्य और सीमा-बद्ध पदार्थ के तत्त्वानुसंधान में व्याप्त है, उसी प्रकार 'विश्वास' असीम के अनुसंधान में व्यस्त है। अस्तु।

अनन्त की इच्छा मानव-जीवन में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो गई है। दार्शनिकों का कथन है कि ज्ञान, प्रेम और इच्छा, इन्हीं से मनुष्य-जीवन है। इन तीनों की गति किस ओर है? क्या ज्ञान की कभी तृप्ति होती है? प्रति दिन नए-नए सत्यों का आविष्कार होता जा रहा है, तो भी विद्वान् लोग सत्य के अनुसंधान में संलग्न हैं। बात यह है कि सत्य का यथार्थ स्वरूप अनन्त ईश्वर है। इसी से ज्ञान का अन्त नहीं है। यही बात प्रेम और इच्छा के विषय में कही जा सकती है। प्रेम और इच्छा की तृप्ति किसी ससीम वस्तु से सम्भव नहीं। यही कारण है कि मनुष्य अनन्त ईश्वर पर विश्वास करता चला आ रहा है।

अनंत काल से मनुष्य उसी अलक्षित जगत् के रहस्यागार को देखने के लिये व्याकुल हो रहा है। वह जानता है, इह-जगत् ही उसका सर्वस्व नहीं है; यहीं उसकी जीवन-यात्रा की समाप्ति नहीं होती। परंतु, उसका गंतव्य स्थान कहाँ है, यह उसे ज्ञात हो या अज्ञात, वह आगे ही बढ़ता जायगा। उसका सारा प्रयास उसी के लिये है। प्राचीन साहित्य की अलौकिक कल्पना में उसी अनंत का आभास पाया जाता है। मध्य-कालीन साहित्य के

भक्तिवाद में उसी का दिग्दर्शन हुआ है। आधुनिक साहित्य में भी उसी की ओर कवियों की प्रवृत्ति है। यही प्रयास उसके साहित्य में प्रकट होता है। यही उसकी कला में दर्शित होता है। विज्ञान और दर्शन-शास्त्र में उसी की चिंता रहती है। मैत्रेयी की तरह मनुष्य की आत्मा यही कहती है—मैं उसे लेकर क्या करूँ, जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती ? साहित्य का यही चिरंतन भाव है। धर्म का यही सनातन भाव है। यहीं साहित्य और धर्म का सम्मिलन होता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि धर्मों में विभिन्नता भी तो है। साहित्य में उस विभिन्नता के कारण एक भाव की पुष्टि कैसे हो सकती है ? इसके लिए हमें धर्म का विश्लेषण करना होगा। धर्म है क्या ?

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा सम्बन्ध स्थापित करता है, वही उसका धर्म हो जाता है। संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं, उन सबका उद्देश्य एक ही है। वह है विश्व से मनुष्य का संबंध स्थापित करना। मनुष्य को प्रकृति ने चारों ओर से घेर रक्खा है। वह उसी में आबद्ध है। परन्तु किसी अति प्राकृत और अतींद्रिय सत्ता पर मनुष्य का विश्वास चिरन्तन है। वह जानता है, प्रकृति से भी परे कोई है। वह क्या है, इसे वह अच्छी तरह भले ही न समझ सके, किंतु उसे यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक वह इस प्राकृतिक माया-पाश को काटकर ऊपर नहीं उठेगा, तब तक वह अपना यथार्थ धर्म नहीं देख सकेगा। प्रकृति ही मनुष्य

के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न करती है। उसी के साथ मनुष्य का पहला संबंध होता है। कभी वह प्रकृति को मायाविनी समझ कर उससे अपना संबंध छोड़ देना ही श्रेयस्कर समझता है; और कभी वह उसको शक्ति-रूप में देखकर अपने को उससे योग-युक्त करना चाहता है। परन्तु प्रकृति चाहे शक्ति हो या माया, उसी के भीतर हमारी यात्रा होती है। यदि वह बंधन है, तो भी बिना उस बंधन को स्वीकार किए मुक्ति का उपाय नहीं है। प्रकृति से हमारा दृढ़ संबंध है। अब विचारणीय यह है कि संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों ने इस संबंध को किस रूप से स्वीकार किया है?

प्रकृति के साथ हमारा पहला संबंध व्यावहारिक होता है। पृथ्वी पर अवतीर्ण होते ही मनुष्य को प्रकृति से व्यवहार करना पड़ता है। कभी एक ऐसा समय था, जब मनुष्य प्रकृति के ही आश्रित था। परन्तु अब सर्वत्र मनुष्य की गति है। प्रकृति से व्यावहारिक संबंध स्थापित करने में मनुष्य ने सबसे पहले यह शिक्षा ग्रहण की कि हमें अपने जीवन की रक्षा के लिये संग्राम करना पड़ेगा। जो संग्रामशील हैं, जिनकी गति अप्रतिहत है, वे ही प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध रख सकते हैं। जिनमें यह शक्ति नहीं, उन्हें प्रकृति स्वयं नष्ट कर देती है। इसी सम्बन्ध से मनुष्य की कार्य-कारिणी शक्ति उद्बोधित हुई, और इसी से मनुष्य प्रकृति-पूजा की ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति की इंद्र, चंद्र, वायु, वरुण आदि प्रचंड शक्तियों के आगे मनुष्य की शक्ति अत्यंत क्षुद्र प्रतीत होती थी। अतएव उनके प्रति मनुष्य के हृदय में विस्मय और

आतंक का होना स्वाभाविक था। इसी से उनको अपने अनुकूल करने के लिये मनुष्य उनकी पूजा करने लगा। जब उसे यह जान पड़ा कि प्रकृति की ये शक्तियाँ उसके अनुकूल हैं, तब उसके हृदय में भक्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ये ही तीन भाव—विस्मय, भक्ति और आनन्द—मनुष्य की समस्त धार्मिक भावनाओं के मूल-कारण हैं। इन भावों को मनुष्य ने अपनी सभ्यता के प्रथम स्तर में ही प्राप्त कर लिया।

प्रकृति से व्यावहारिक संबन्ध स्थापित होते ही पहले-पहल यही जान पड़ता है कि प्रकृति हमारे विरुद्ध है। प्रकृति में व्यक्तित्व-का कोई स्थान नहीं है। उसका जो एक उद्देश है, उसी की पूर्ति के लिये प्रत्येक वस्तु है। वह असंख्य का विनाश कर अपने इस उद्देश को पूर्ण करती है। परन्तु जब प्रकृति से अधिक परिचय हो जाता है, जब हम उसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब हम यह जान जाते हैं कि प्रकृति के इस संग्राम में प्रतियोगिता नहीं, सहयोगिता है। प्रकृति केवल सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने में व्यस्त है। व्यक्तित्व की पूर्णता तभी होती है, जब व्यक्तित्व विश्व के मंगल से विलुप्त हो जाता है। प्रवृत्ति के त्याग, इच्छा के विसर्जन और अहंकार के नाश से व्यक्तित्व का लोप होता है। जब हम प्रकृति के इस बृहत् उद्देश से अवगत हो जाते हैं, तब उसे अपनी सहचरी समझने लगते हैं। तब हमसे उसका जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह साहचर्य का होता है। इस साहचर्य में मनुष्य केवल आनंद देखता है। अनंत आकाशमंडल, उत्तुंग पर्वत-

राशि, शस्य-श्यामला पृथ्वी और असीम समुद्र को देखकर वह विस्मय से अवश्य अभिभूत होता है। परन्तु यह विस्मय ही तो प्रेम है। जितना ही प्रकृति से उसका संबंध घनिष्ठ होता है, उतना ही अधिक उसका विस्मय बढ़ता है। आकाशमण्डल के नक्षत्र, लोकों का रहस्य, पृथ्वी का चिरनवीन सौंदर्य, समुद्र का अक्षय भांडार—सभी को वह देखता और उनमें एक ही नियम की विद्यमानता पाता है। जहाँ जीवन है, वहाँ गति है, और वहीं वैचित्र्य की अपरिमित लीला भी। जहाँ मृत्यु है, वहाँ स्थिति है, और वहीं एकता का रहस्यमय दृश्य भी। सब एक दूसरे से आबद्ध हैं। समुद्र से मेघ जल लेता है, और मेघ से पृथ्वी जल पाती है। अनंत आकाश और पृथ्वी, दोनों को एक ही सूत्र में किसी ने बाँध दिया है। मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है, और प्रकृति को कहता है कि यह मैं नहीं हूँ। किंतु मनुष्य और प्रकृति, दोनों एक ही के दो भाग हैं।

प्रकृति से तीसरा संबंध जब स्थापित होता है, तब प्रकृति ज्ञेय होती है, और मनुष्य ज्ञाता। व्यवहार से परिचय होता है, और मनुष्य की कर्म-शक्ति विकसित होती है। इसी से नैतिक धर्म का उद्भव होता है। भाव के आनंद में संग्राम की कठिनता दूर होती है, और मनुष्य का भोग पूर्ण होता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्पत्ति होती है। सब के अंत में ज्ञान है। जब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता, तब तक नीति और प्रेम में अपूर्णता ही रहती है। यही कारण है कि धर्म में कर्म, भक्ति और ज्ञान, इन तीनों का सम्मिलन होता है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी देशों में मनुष्यों की धार्मिक भावनाओं के कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं। फिर मनुष्यों की धार्मिक साधनाओं में इतनी भिन्नता क्यों है ? संस्कृत के एक कवि ने तो इसका कारण रुचि-वैचित्र्य बतलाया है— "रुचीनां वैचित्याद्दजुकुटिलनानापथजुषाम् ××× " किंतु यदि रुचि-वैचित्य ही धर्मों की भिन्नता का कारण मान लिया जाय, तो इसकी भी मीमांसा करनी होगी कि मनुष्य वैचित्र्य की ओर क्यों झुकता है ? जिन महात्माओं ने धर्म का प्रचार किया है, उन्होंने सदैव मनुष्य जाति की एकता पर ज़ोर दिया है। उन्होंने भिन्नता को दूर कर एकता ही स्थापित करने की चेष्टा की है। परन्तु उनके प्रयास का परिणाम विपरीत ही हुआ है। बौद्ध-धर्म के अनुयायियों ने बौद्ध-धर्म के कई भेद कर डाले। महात्मा ईसामसीह के धर्म की कितनी ही शाखाएँ हो गई हैं। मुसलमान-धर्म में भी भेद हो गया है। हिंदू-धर्म तो अनेक संप्रदायों में विभक्त हो ही गया है। इसका कारण क्या है ? मनुष्य की साधना का लक्ष्य एक होने पर भी उसके मार्ग भिन्न-भिन्न क्यों हैं ? यहाँ हम भिन्न-भिन्न विद्वानों के कथनानुसार साधना का रहस्य बतलाने की चेष्टा करेंगे।

संसार में जितने भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदाय प्रचलित हैं, उनके मूल में ऐसा कोई भी भाव वर्तमान नहीं है, जो मानव-जाति की एकता का बाधक है, परन्तु जब किसी धार्मिक संप्रदाय में कठोरता आती है, तब वह मनुष्यों को मिला तो नहीं सकता, किंतु

उनको पृथक् कर देता है। इसी कारण जब कोई संप्रदाय कृच्छ्र-साधन को ही अपने धर्म का प्रधान अंग स्वीकार कर लेता या आचार-विचार को ही मुख्य स्थान देता है, तब वह मनुष्यों में भेद कर डालता है। तब संप्रदाय अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये नियम बनाता और उन्हीं नियमों के पालन में सदा सावधान रहता है। उसके अनुयायी सदैव बच बच कर चलते हैं, जिस से कभी नियम-भंग न हो जाय। नियम-पालन को ही धर्म मानने से कुछ ऐसा संस्कार हो जाता है कि जहाँ वह उन नियमों का अस्तित्व नहीं देखता, वहाँ उसके हृदय में तिरस्कार का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि यहूदी जाति अपने धर्म-नियमों के जाल में स्वयं फस गई। धर्म के क्षेत्र में समस्त मानव-जातियों को एकत्र करना और उनसे मेल रखना उसके लिये असंभव है। वर्तमान हिंदू समाज ने भी धर्म ही के द्वारा अपने को समस्त मानव जातियों से पृथक् कर लिया है। जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आंदोलन हुआ है, तब धर्म ने अपनी रस-मूर्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। उसने सभी कठोर बंधनों को तोड़कर मनुष्य-जातियों को एक करने का प्रयत्न किया है। भगवान् ईसा-मसीह ने प्रेम और भक्ति का जो प्रवाह बहा दिया था, वह यहूदी-धर्म के कठिन शास्त्र-बंधन में अवरुद्ध नहीं हुआ। वह स्रोत अभी तक जातियों की स्वार्थ शृंखला को तोड़कर मनुष्य को मनुष्य से मिलाने की चेष्टा कर रहा है। भगवान् बुद्ध की विश्व-मैत्री और करुणा ने समस्त एशिया को एक कर दिया था। नानक, कबीर,

चैतन्य, इन सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कृत्रिम प्राचीरों को ढककर मनुष्यत्व का एकत्व स्थापित किया था।

धर्म की पर्यालोचना करने से यही विदित होता है कि सभी देशों में धर्म के प्रचारकों ने एक सत्य धर्म का आविष्कार कर उसके प्रचार के लिए आत्मोत्सर्ग किया है। तो भी धर्म में भेद-हीन एकता कभी स्थापित नहीं हुई। सभी धर्मों का संबंध किसी-न-किसी देश और काल से है। देश और काल से पृथक् कर देने पर धर्म निष्प्राण हो जाता है। बात यह है कि धर्म केवल तत्त्वों की समष्टि नहीं है। यदि सत्य का रहस्योद्घाटन ही धर्म का एकमात्र उद्देश होता, तो केवल ज्ञान-चर्चा में ही धर्म का स्वरूप उपलब्ध करना संभव हो जाता। परन्तु धर्म की आवश्यकता सत्य की प्रतिष्ठा की अपेक्षा जीवन के संगठन में है। यदि हम धर्म से अनुष्ठान को पृथक् कर दें, तो धर्म में जो कुछ अवशिष्ट रहेगा, वह विज्ञान हो सकता है, दर्शन हो सकता है; पर धर्म नहीं हो सकता। ईश्वरीय ज्ञान देकर ही धर्म निश्चेष्ट नहीं रह सकता। उसका प्रधान कार्य है ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा। इसी उद्देश के साधन के लिए पूजा, उपासना आदि जातीय अनुष्ठानों की सृष्टि होती है। प्रत्येक जाति अपनी अपनी श्रेष्ठ संपत्ति लेकर ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना चाहती है। मन्दिरों के निर्माण में हिंदू अपनी समस्त शक्ति लगाकर उसी ईश्वर के विशाल ऐश्वर्य को देखना चाहता है, जिसके लिए मुसलमान मसजिदों में और ईसाई गिरजाघरों में प्रवेश करते हैं। इन सभी का उद्देश एक है। वह है ईश्वर से मानवात्मा का संयोग। किंतु

सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कारों के कारण एक ही उद्देश की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अनुष्ठान स्वीकृत हुए हैं। जो धर्म-तत्त्व अनुष्ठान और समाज से पृथक् है, वह मानव-जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता। हमारी समस्त सत्ता को जाग्रत् करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है, वही धर्म है। धर्म के तत्त्व-मात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती है, विज्ञान अथवा दर्शन द्वारा हम ईश्वर अथवा सत्य के स्वरूप को जान सकते हैं, और उससे बुद्धि की तृप्ति हो सकती है;किंतु हमारे जीवन को संतोष नहीं हो सकता। यही कारण है कि सांख्य अथवा वेदांत, दोनों धर्म का स्थान नहीं ले सके। ईश्वर को जान कर उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। हम अपने कर्म-जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। प्रेम, भक्ति या कर्म को छोड़कर और किसी से मनुष्य की तृष्णा नहीं बुझती। धार्मिक मनुष्य की स्वभावतः यह इच्छा होती है कि वह अपने समस्त जीवन में ईश्वर की इच्छा को पूर्ण और समस्त विश्व में उसका राज्य स्थापित करे। वह भगवान् की सेवा के लिए उत्सुक होता है। वह अपने सुख-दुःख को अपने ही भीतर छिपाकर नहीं रखना चाहता। आनन्द में वह ईश्वर को अपने उस आनन्द का साक्षी बनाना चाहता है। दुःख में वह उसी के पास जाकर अपनी विपत्ति की कथा सुनाना चाहता है। जीवन में वह जो कुछ कर्म करता है, उन सभी में भगवान् का सामीप्य चाहता है। यह भावोन्माद है। ज्ञान से इसका लोप हो

सकता है। यह उन्माद मनुष्य को मोहावस्था में डाल देता है। परन्तु इस मोहावस्था को वह दृढ़ता से बनाए रखना चाहता है; क्योंकि तभी उसके लिए ईश्वर अगम्य और अतर्क्य नहीं रहता। वह कभी ईश्वर को स्वामी कहता, कभी पिता मानता और कभी मित्र समझता है। धर्म में यही भाव रहने के कारण सर्वसाधारण उसे उत्कंठा के साथ ग्रहण करते हैं। साहित्य और कला में धर्म का यह भाव व्यक्त किया जाता है।

मानव-जाति का इतिहास इसका प्रमाण है कि कभी किसी भी जाति ने वस्तु-निरपेक्ष-भाव ग्रहण करने के लिये आग्रह नहीं किया। सत्य कोई वस्तु-निरपेक्ष पदार्थ है, जो देश और काल से अतीत है—इस भाव को किसी ने भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया। सत्य की उपलब्धि उन्होंने अपने जीवन में ही करनी चाही है। इसीसे सत्य संकीर्ण नहीं होता, किंतु प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वर को सगुण बनाकर कोई भी उपासक उसे सीमाबद्ध करना नहीं चाहता, किन्तु उसको अपने लिए प्रत्यक्ष करना चाहता है। यही उसकी साधना है, यही उसकी उपासना है।

हमारी धर्म-साधना की गति दो ओर है, शक्ति की ओर और रस की ओर। शक्ति की ओर होने से साधना का परिणाम है दृढ़ विश्वास। यह विश्वास ज्ञान की सामग्री नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व पर हमारा जो विश्वास है, वह अचल है। जिनका ऐसा अचल विश्वास है, वे किसी भी अवस्था में अपने को निराश्रय अथवा निस्सहाय नहीं समझते। यह विश्वास उनके लिये एक

निश्चित आधार है। उसमें एक दृढ़ शक्ति है। जिनमें यह विश्वास का बल नहीं है, उनका कोई अवलंब नहीं है। जो उनके हाथ आता है, उसी को वे पकड़ने की चेष्टा करते हैं: और जब वह उनके हाथ से निकल जाता है, तब उनको उसके खोजने से भी सांत्वना नहीं मिलती। जिन धर्मों में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास है, उनके अनुयायियों में शक्ति रहती है; किंतु उद्वेग नहीं रहता। उनको यह दृढ़ निश्चय रहता है कि जीवन-यात्रा का एक गंतव्य स्थान है, जहाँ उनकी यात्रा की समाप्ति है। यदि उनको अपने कर्मों का प्रत्यक्ष फल नहीं मिलता, तो भी वे जानते हैं कि वे कर्म-फल से वंचित नहीं होंगे। विपरीत फल पाने पर भी वे उसके वैपरीत्य पर ध्यान नहीं देते। वे अपने इस विश्वास पर अटल रहते हैं कि कोई ऐसा भी स्थान है, जहाँ पूर्ण सत्य को उपलब्ध कर लेंगे; जीवन में हेर-फेर होता रहे, किंतु इस सत्य से कोई भी हमें वंचित नहीं कर सकता। जिसमें यह शक्ति, यह अदम्य विश्वास रहता है, वही दृढ़-विश्वासी है। वह उसी सत्य में विश्राम लेता और उसी सत्य पर निर्भर होकर काम करता है।

यह सच है कि ईश्वर सत्य-रूप से सबको धारण करता, सबको आश्रय देता है। परन्तु सच होने पर भी यही पूर्ण सत्य नहीं है। पृथ्वी खूब दृढ़ है। यदि उसमें यह कठिन दृढ़ता न रहती, तो हम निस्संकोच होकर उसका आश्रय नहीं ले सकते थे। परन्तु यदि यही कठिनता पृथ्वी का एक-मात्र चरम रूप होता तो वह एक पाषाणमयी भयंकर मरु-भूमि हो जाती। इस कठिनता और

दृढ़ता के ऊपर रस का विकास होता है। वही उसकी चरम परि-णति है। वह कोमल है, सुन्दर और विचित्र है। वही लीला है, ज्ञान है, चिरनवीनता है। वहीं पृथ्वी का सार्थक रूप प्रकट होता है। मतलब यह कि नित्य-स्थिति के ऊपर एक नित्य-गति की लीला न रहने से उसकी संपूर्णता नहीं रहती। पृथ्वी की कठोर पाषाण-मयी भित्ति के सर्वोच्च स्थान पर उसी गति का प्रवाह है। वह प्राण का प्रवाह है, सौंदर्य का प्रवाह है। उसकी चंचलता का अंत नहीं है। रस सदैव सफल होता है। इसी से वह वैचित्र्य में हिलोरें लेता है; इसी में वह अपनी अपूर्वता प्रकट करता है; इसी से उसकी नवीनता का अंत नहीं है। जब धर्म और साधना में यह रस सूख जाता है, तब उसमें फिर एक अटल कठोरता आ जाती है। उसमें प्राण का आवेग और जीवन का सौंदर्य नहीं रह जाता। उसका स्थान जरा और मृत्यु ले लेती है। जहाँ साधना का उत्कर्ष है, वहाँ गति निर्बाध होगी, भाव वैचित्र्य-पूर्ण होगा, और माधुर्य का नित्य विकास होगा।

एक बार किसी ने महात्मा कबीर से प्रश्न किया—ब्रह्म अरूप है या सरूप, वह एक है या अनेक? कबीर ने उत्तर दिया—उसको केवल अरूप कहना मिथ्या है, और उसको किसी विशेष रूप में समझना भी मिथ्या है। वह सभी रूपों में है। वह है, इसी से तो यह रूप है। यदि वह न रहे, तो परमाणु की भी स्थिति असंभव है। वह सर्वरूप है, अतएव किसी विशेष रूप में आबद्ध नहीं है। वह रूपों की समष्टि भी नहीं है। इस दृष्टि से वह अरूप भी है।

इस प्रकार उसको अरूप अथवा सरूप समझना भ्रम है। वह सब बंधनों के अतीत है। फिर रूप या अरूप का बंधन कैसे संभव है ? इसी प्रकार संख्या का भी बंधन है। वह न एक है और न अनेक। वह तो संख्या से अतीत है। अतएव एक-एक देश में उसका एक-एक रूप है। नारायण के रूप में वैचित्र्य का अन्त नहीं है। भिन्न-भिन्न साधक अपनी भिन्न-भिन्न साधनाओं में नारायण के भिन्न-भिन्न रूप और रस को प्राप्त करते हैं। वैचित्र्य ही प्रत्येक साधक को अमृत का दान करता है। यही बात रैदास ने भी कही है—उनका कथन है कि वैचित्र्य ही साधना का अमृत है। साधक का अमृत भी वैचित्र्य-पूर्ण है। उनके तीर्थों में वैचित्र्य है; क्योंकि जो स्वामी हैं, वे वैचित्र्य के ही अमृत में अवगाहन करते हैं। साहित्य में यह धर्म-वैचित्र्य उसके सार्वभौमिक आदर्श का बाधक नहीं है। इससे उसकी पुष्टि ही होती है। जो लोग इसी वैचित्र्य को विरोध समझ कर पारस्परिक विद्वेष में पड़े रहते हैं, वे धर्म के पथ से बहुत दूर हैं। साहित्य में विरोध के लिए स्थान नहीं है—सर्वत्र सम्मिलन का ही भाव विद्यमान है। हमारा विश्वास है कि यदि कभी संसार में वसुधैव कुटुम्बकम् के मूल मन्त्र का प्रचार होगा, तो साहित्य के ही द्वारा होगा। एवमस्तु ।

वात्सल्य और सूरदास

इसमें सन्देह ही क्या कि 'तत्त्व-तत्त्व सूरा कही ?' ग़ज़ब की थी उस अन्धे की सूझ। शृङ्गार और वात्सल्य-रस की जो विमल धाराएँ प्रेमावतार सूर ने बहाईं, उनमें आज भी विश्व-भारती निमज्जन कर अपने सुख-सौभाग्य को सराहती है। वात्सल्य-वर्णन तो इनका इतना प्रगल्भ और काव्याङ्ग-पूर्ण है कि अन्यान्य कवियों की सरस सूक्तियाँ सूर की जूठी जान पड़ती हैं। सूर-जैसा वात्सल्य-स्नेह का भावुक चित्रकार न भूतो न भविष्यति—न हुआ है, न होगा। सूर ने यदि वात्सल्य को अपनाया, तो वात्सल्य ने भी सूर को अपना एक मात्र आश्रय-स्थान मान लिया। सूर का दूसरा नाम वात्सल्य है और वात्सल्य का दूसरा नाम सूर। सूर और वात्सल्य में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

अच्छा, आओ, अब उस बालगोपाल की सूर-वर्णित दो-चार बाल-लीलाएँ देखें। बलराम और कृष्ण माता यशोदा के आगे खेल रहे हैं। सहसा कृष्ण की दृष्टि बलदाऊ की चोटी पर गई। हैं! दाऊ की इतनी लम्बी चोटी और मेरी इतनी छोटी! दूध पीते-पीते, अरी, कितने दिन हो गये, फिर भी यह उतनी ही छोटी है! मैया, तू तो कहा करती थी कि दाऊ की चोटी की तरह, कन्हैया! तेरी भी लम्बी और मोटी चोटी हो जायगी। पर वह कहाँ हुई, मेरी मैया! तू मुझे कच्चा दूध देती है, सो भी

खिझा-खिझाकर। तू माखन-रोटी तो देती ही नहीं। अब तू ही बता, चोटी कैसे बढ़े ? बाल-स्पर्धा का कैसा सुन्दर भाव है !

मैया, मेरी कब बाढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बलकी बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी-मोटी।
काढ़त, गुहत, न्हवावत, ओछत, नागिनि-सी भुइँ लोटी॥
काचो दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरस्याम, चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥

यशोदा को तुरन्त एक सूझ उठ आई। बोली, 'भैया, ठीक तो कहती हूँ, दूध पीने से ही तो चोटी बढ़ेगी। पर कौन दूध ? कजली गैया का। सो तू उसका दूध कब पीता है। आजसे, कन्हैया, तू उसी गैया का दूध पिया कर'—

कजरी कौ पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै।

ज़िद्दी लड़के का मन और कैसे बहलाया जाय। कन्हैया सच-मुच बड़ा हठी है—

मेरो, माई ! ऐसो हठी बाल गोबिंदा।
अपने कर गहि गगन खेलन कों माँगैं चंदा॥

बोलो, अब चन्दा कैसे मँगा दूँ उसे।

× × × ×

आज, लो, बलदाऊ की कुशल नहीं है। बालगोविंद ने उन पर मैया के इजलास-ख़ास में मान-हानि का दावा दायर कर दिया है। कन्हैया छोटा है, तो क्या हुआ। छोटा हो या बड़ा, लगने-

वाली बात सब को लग जाती है। दाऊ को ऐसा न कहना चाहिए। बड़े आये कहीं के दाऊ। कहते हैं कि कन्हैया, तू यशोदा का जाया हुआ पूत थोड़े ही है, तू तो मोल का लिया हुआ है! कभी माँ का नाम पूछते हैं, तो कभी बाप का! आप यह भी कहते हैं कि गोरे मा-बाप का लड़का भी गोरा ही होता है। तू तो काला-कलूटा है, कृष्ण! मैया, अब दाऊ के साथ खेलने को जी नहीं चाहता। उन्हों ने लड़कों को भी यही सिखा-पढ़ा दिया है। वे भी सब चुटकी दे-देकर मेरी ओर हँसा करते हैं। यशोदा से बालकृष्ण ने ताना देकर कहा, अरी मैया! दाऊ को तू क्यों मारेगी! मारना-पीटना तो मुझ गरीब को ही तू जानती है। कुटना-पिटना मेरे ही भाग्य में लिखा है। दाऊजी तो खिझाते ही हैं, ले तू भी मुझे खिजा ले—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायौ।
मोंसों कहतु मोल कौ लीनों, तोहि जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं, या रिस के मारें, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहतु कौन तुव माता, कौन तिहारो तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही कों मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन कौ मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥

बालकृष्ण को न्यायाधीश ने गोद में बिठा लिया, और मुँह चूमकर यह फैसला सुना दिया—

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूरस्याम, मोहि गो-धन की सौं, हौं जननी तू पूत ।।

यशोदा यह बात किसी और की शपथ खाकर कहतीं, तो कृष्ण को शायद ही उनके कथन पर विश्वास आता। पर यह क़सम गो-धन की है। ग्वालिनी के लिए इस शपथ से बड़ी और कौन शपथ हो सकती है ? इन पंक्तियों में कवि ने कैसा स्वाभाविक वात्सल्य-स्नेह भर दिया है !

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूरस्याम, मोहि गो-धन की सौं, हौं जननी तू पूत ।।

पर वास्तव में यह बात थी नहीं। बलभद्र को उदार-हृदया यशोदा अपने सुत से भी अधिक प्रेम करती थीं। बलराम ने स्वयं गद्गद कण्ठ से एक बार यशोदा मैया के वात्सल्य-स्नेह का इस भाँति परिचय दिया था—

एक दिवस हरि खेलत मोंसों झगरो कीनों पेलि ।
मोकों दौरि गोद करि लीनों, इनहिं दियो करि ठेलि ।।

अपने दाऊको कृष्ण भी बहुत चाहते थे। शिकायत तो यों ही कभी-कभी कर दिया करते थे। अपने छोटे प्यारे भैया पर दाऊ का भी तो असीम स्नेह था। गायें खुद आप चराते और लाड़ले कृष्ण को वन के फल तोड़-तोड़कर खिलाया करते। कृष्ण पर बलराम का जो स्नेह था, उसे कृष्ण का ही हृदय जानता था—

मैया री, मोहि दाऊ टेरत ।
मोकों बन-फल तोरि देतु है, आपुन गैयन घेरत ।।

× × × ×

किसी ने क्या इस बात का भी कभी अनुसंधान किया है कि माता का हृदय विधाता ने किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य वृत्तियों को लेकर निर्मित किया है ? स्नेह का वह कैसा विस्तीर्ण पयोनिधि है ! कह नहीं सकते कि उस दिव्य महासागर में कितने अमूल्य भाव-रत्न पड़े हुए हैं। फिर यशोदा-सी माता और कृष्ण-सा पुत्र ! इस वात्सल्य-वारिधि की थाह कौन ला सकेगा ?

यशोदा का हृदय स्वभाव से ही अत्यन्त स्निग्ध और कोमल है। प्यारा कन्हैया कब से खेलने गया है। ऐं ! अबतक नहीं लौटा ! साथ में आज उसका दाऊ भी नहीं है। गाँव के लड़के उस छोटे-से कान्ह को दौड़ा-दौड़ाकर थका डालेंगे। उन ऊधमी लड़कों के साथ वह भोला-भाला नन्हा-सा कृष्ण खेलना क्या जाने ? कहीं गिर न पड़ा हो, किसी ने मार-पीट न कर दी हो, या कोई कहीं फुसलाकर न ले गया हो। बलराम भी नहीं देख पड़ता। किसे भेजूँ, क्या करूँ ? न जाने, आज किसने मेरे लाल को बहका लिया—

खेलन कों मेरो दूर गयौ !
संग-संग कहँ धावत ह्वैहै, बहुत अबेर भयौ ॥

खैर कहीं से, खेलता-कूदता यशोदा का हृदय-दुलारा गोपाल आ गया। मातृ-स्नेह की नदी उमड़ आई। दौड़कर लाल को गोद में उठा लिया। बार-बार मोहन का मुँह चूमने लगी। भैया, आज कहाँ खेलने चले गये थे ? तब के गये, मेरे लाल, अब आये ! ये

सब ग्वाल-बाल, न जाने, तुम्हें कहाँ-कहाँ दौड़ाते फिरे होंगे। सुना है कि आज वन में एक 'हाऊ' आया है। तुम तो, भैया, नन्हे से हो, कुछ जानते-समझते तो हो नहीं। लो, अपने इस सखा से ही पूछ लो कि वह कैसा हाऊ है—

खेलन दूर जात कित कान्हा ?
आजु सुन्यौ, बन हाऊ आयो, तुम नहि जानत नान्हा ॥
यह लरिका अबहीं भजि आयौ, लेहु पूछि किन ताहि।
कान काटि वह लेतु सबनि के, लरिका जानत जाहि ॥

मैं यों ही बक रही हूँ ? कुछ सुनते ही नहीं! फिर वही ऊधम! क्यों; न मानोगे ? अब रात को कहाँ चले ? मेरा प्यारा बच्चा ! साँझ हो गई है, अब अँधेरे में दौड़ना अच्छा नहीं। देखो, मान जाओ, बच्चा ! क्या खेलने को फिर सबेरा न होगा—

साँझ भई, घर आवहु प्यारे !
दौरत कहाँ, चोट लगिहै कहुँ, फेरि खेलियो होत सकारे ॥

हलधर ! तुम्हारा भाई कैसा ढीठ होता जाता है। किसी की सुनता तक नहीं। कितना ही रोको, मानता ही नहीं। अब तुम्हीं बुलाओ। तुम्हारे ही बुलाने से आयगा। मैं भी देखूँ, तुम दोनों कैसे खेलते हो। मेरे राजा बेटा, आओ, दोनों भाई मेरी आँखों के ही सामने कुछ देर यहीं खेलो। क्यों, आँखमिचौनी खेलोगे ? अच्छी बात है, वही खेलो—

बोलि लेहु हलधर, भैया कों।
मेरे आगे खेल करौ कछु, नैननि सुख दीजै मैया कों ॥

हलधर कह्यौ, आँख को मूँदें ? हरि कह्यौ, जननि जसोदा ।
सूरस्याम, लै जननि खेलावति हरषसहित मनमोदा ॥

× × × ×

सखी ! आज अपने यहाँ नन्द-नन्दन माखन-चोरी करने आये हैं। हम सबका आज अहोभाग्य! देखो कैसी चतुराई से आप माखन ले-लेकर खा रहे हैं। श्रीदामा के कन्धे पर चढ़कर दही की मटकी भी आपने धीरे से सींके पर से उतार ली है। श्यामसुन्दर की यह छवि देखते ही बनती है, सखी ! धीरे-धीरे बात करो। कहीं गोपाललाल सुन न लें और पकड़ जाने के डर से भाग जायँ। अरी ! ऐसे हृदयहारी चोर को कहीं घर से भगाना होता है ? हे भगवन् ! नित्य ही यह प्यारा चोर हमारे घर माखन चुराने आया करे, और इस नवनीत-प्रिय की यह अनुपम शोभा निहार-निहार कर हम अपनी आँखें सिराया करें—

गोपालहि माखन खान दै ।
सुन री सखी कोऊ मति बोलै, बदन दही लपटान दै ॥

अरी, यह छवि बार-बार देखने को तो मिलेगी नहीं। ओट में हो, सखी, जी भरकर देख क्यों नहीं लेती, अहा !

गोपाल दुरे हैं माखन खात ।
देखि सखी, सोभा जु बनी है, स्याम मनोहर गात ॥
उठि अवलोकि, ओट ठाढ़ी ह्वै, क्यों न नयन-फल लेत ?
चकित चहूँ चितवत लै माखन, और सखन कों देत ॥

उस दिन खूब दही-माखन चुराया और खाया गया। फिर तो

घर-घर यही लीला होने लगी। आज एक घर में चोरी हुई, तो कल किसी दूसरे में। अब तो यशोदा रानी के पास नित्य नए उलाहने भी पहुँचने लगे। पर उन्हें इन चोरियों पर विश्वास न हुआ। पाँच-साढ़े पाँच वर्ष का बालक कहीं चोरी कर सकता है ? यह सब बनाई हुई बातें हैं। कृष्ण की माखन-चोरी पर, लो, कैसे विश्वास किया जाय।

मेरो गोपाल तनिक सो,
कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वालिनि, जो यह करै सो थोरी॥
कब छींके चढ़ि माखन खायो, कब दधि मटुकी फोरी।
अँगुरिन करि कबहूँ नहिं चाखतु, घर ही भरी कमोरी॥

ठीक है नन्द-रानी ! ऐसा ही कहोगी ! पर यह तो तुम जानती हो कि जिसे चोरी की चाट लग जाती है उसे फिर घर के हीरे-मोती भी नहीं भाते ! तुम्हारा यह पाँच वर्ष का तनिक-सा गोपाल बड़ा नटखट है। हमें तो तुम से न्याय की आशा थी। क्या यही तुम्हारा न्याय है ? तुम सरासर अपने लाल का पक्ष ले रही हो। यही बात रही, तो फिर हम सब तुम्हारा गाँव छोड़कर किसी दूसरे गाँव में जा बसेंगी। क्या तुम्हारी ही छत्र-छाया में सारा सुख है ?

यशोदा से अब तो सहन न हो सका। क्रोध आ ही गया। हाथ पकड़ कर कृष्ण से पूछने लगीं—इस ग्वालिनी का दही-माखन क्या तूने चुराकर खाया है ? अरे, अपने घर में क्या कुछ कमी थी,

रे ? सच-बोल, नहीं तो मारे थप्पड़ों के तेरे गाल लाल कर दूँगी। उलाहने कहाँतक सुनूँ। एक-न-एक गूजरी नित्य उलाहना लिए आँगन में खड़ी रहती है।

इस पर, अब, पाँच वर्ष के बालक का जवाब सुनिए—

मैया मेरी, मैं नाहीं दधि खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ॥
देखि तुही, छींके पर भाजन ऊँचे घर लटकायौ।
तुही निरखि, नान्हे कर अपने, मैं कैसे दधि पायौ॥

इसे कहते हैं चौर-चातुर्य !

मुख दधि पोंछि कहत नँद-नंदन, दौना पीठि दुरायौ।

तोतली वाणी में दिया हुआ यह विदग्धता-पूर्ण उत्तर काम कर गया। यशोदा का क्रोध से भरा हृदय करुणार्द्र हो गया। उलाहना लाने वाली गोपियों की भी आँखें स्नेह से डबडबा आंई। इतने में गोपाल ने ताली देकर हँस दिया। बस, फिर क्या—

डारि साँटि, मुसुकाय तबै गहि सुत कों कंठ लगायौ॥

अहोभाग्य ! अहोभाग्य !! धन्य ब्रज-वासियो !

बाल-बिनोद मोद मन मोह्यौ, भगति-प्रताप देखायौ।
'सूरदास' प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायौ॥

× × × ×

एक दिन उस माखन-चोर पर बुरी बीती। ऊधम की भी कोई हद होती है। लो, आज उस हठीले गोपाल ने सारा दही लुढ़का दिया, मथानी की रस्सी तोड़ दी, छाछ का मटका फोड़

डाला और माखन भी सब जूठा कर दिया ! यशोदा बेचारी कहाँ तक गम खाय । इतनी सब शैतानी करके आप मैया को खिराते हुए लम्बे भी हो गये। भागे तो बहुत, पर किसी तरह पकड़ में आ गये । फिर क्या, बड़ी मार पड़ी । और ऊखल से बाँध भी दिये गये । थप्पड़ों से गाल लाल हो गये, और कान भी उमेठे गये । बहुत रोये, बहुत चिल्लाये, पर माता को नेक भी दया न आई। जो नित्य उलाहना देने आती थीं, वे ही गोपियाँ आज यशोदा से कह रही हैं—

यशोदा, तेरो भलो हियो है माई !
कमलनयन माखन के कारन बाँधे ऊखल लाई ॥
जो संपदा देव-मुनि-दुरलभ, सपनेहु देइ न देखाई ।
याही ते तू गरब भुलानी, घर बैठे निधि पाई ॥
सुत काहूकौ रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई ।
अब अपने घर के लरिका पै इती कहा जड़ताई ॥

इतने में कहाँ से माखन-चोर के दाऊ आ पहुँचे। उन्हें देख गोपाल और भी हिलक-हिलक कर रोने लगे । हलधर ने स्नेह से भैया को गले से तो लगा लिया, पर माता के डर से बन्धन न खोल सके। बलराम का गला भर आया, आँखें डबडबा आईं, बोले—

मैं बरज्यो कै बार कन्हैया,
भली करी, दोउ हाथ बँधाये ।

माता के चरणों पर गिरकर बलराम हा-हा करने लगे—

स्यामहि छोड़ि, मोहि बरु बाँधै ।

मैया, मेरे भैया को छोड़ दे। बदले में तू मुझे बाँध ले। मेरे छोटे-से कन्हैया ने तेरा कितना दूध-दही फैला दिया है, जो तू उसे इतनी डाँट-दपट बता रही है ? आज तेरा हृदय, री मैया, कैसा हो गया ! इस हृदय-दुलारे प्यारे गोपाल को बाँध कर आज तूने यह किया क्या है ? अरी, तुझे माखन तो प्यारा हुआ और यह व्रजभर के प्राणों का प्यारा, प्यारा न हुआ ? आज तू पगली तो नहीं हो गई है, मैया ? छोड़ दे मेरे प्यारे गोपाल को, मैया !

बलराम का भी कितना ऊँचा वात्सल्य-प्रेम है ! लोग तो यह कहते हैं कि उस दिन यमलार्जुन, जिनसे श्रीकृष्ण बाँधे गये थे, शाप-मुक्त होकर आप ही गिर पड़े थे, पर मेरी समझ में तो यह आता है कि बलराम के प्रबलतम स्नेह ने ही उन वृक्षों को गिराकर कृष्ण को बन्धन-विमुक्त किया था। वात्सल्य-प्रेम जो न करे सो थोड़ा।

× × × ×

आज अक्रूर, वस्तुतः क्रूर, के साथ राम और कृष्ण मथुरा को प्रयाण कर रहे हैं। जिसने कभी हरि-हलधर की जोड़ी आँखों की ओट नहीं की, वह यशोदा आज उन्हें मथुरा की ओर जाते हुए देखेगी ! माता की छाती फट रही है, आँखों के आगे अँधेरा-सा छा रहा है, गला भर-भर आता है। इस व्रज में आज कोई ऐसा हितू है, जो मेरे बच्चों को, मेरे हिये के हीरों को मथुरा जाने से रोक रक्खे ?

बरु ए गो-धन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनो ही सुख कमलनैन मो अँखियन आगे खेलौ॥

बासर बदन बिलोकति जीऊँ, निसि निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जिऊँ करमबस तौ हँसि काहि बुलाऊँ।।

पर वहाँ ऐसा कोई भी हितू न निकला। राम-कृष्ण ने जाने की तैयारी कर दी। माता से विदा लेने आये। वात्सल्य-नदी का बाँध टूट गया। दोनों प्यारे बच्चों को यशोदा ने छाती से लिपटा लिया। बेचारी यह क्या जाने कि विदा करते समय क्या कहना होता है। माता की ममता कैसी होती है, इसका पता चञ्चल कृष्ण को आज ही चला। किसी तरह धीरज बाँधकर यशोदा रोती हुई बोली—

मोहन, मेरी इतनी चित धरिये।
जननी दुखित जानिकै कबहूँ, मथुरा-गमन न करिये।।
यह अक्रूर क्रूर कृत रचिकैं तुमहिं लेन है आयौ।
तिरछे भये करमकृत मेरे, बिधि यह ठाट बनायौ।।
बार-बार 'मैया' कहि मोसों माखन माँगतु जौन।
'सूर' ताहि लैबेकों आयौ, करिहै सूनो भौन।।

पर निठुर राम और कृष्ण अपनी मैया को बेसुध और भवन को सूना करके मथुरा को प्रयाण कर ही गये।

गये तो थे चार दिन की कहकर, पर हो गये कई महीने! सुध भी न ली। कहाँ के बाबा, और कहाँ की मैया! कहाँ कौन कैसे है, कुछ याद भी न होगा। अब अपने सगे माता-पिता से भेंट हो गई है न! मैं तो उस निर्मोही गोपाल की एक धाय थी। उसने तो मुझे भुला दिया, पर मैं उस अपने लाल को कैसे भूलूँ?

यह पथिक उधर ही तो जा रहा है। इसके द्वारा क्यों न महारानी देवकी की सेवा में कुछ सँदेशा भेज दूँ। शायद उन्हें कुछ दया आ जाय, हृदय पसीज उठे और मेरे दुलारे कृष्ण को दस-पाँच दिन के लिए यहाँ भेज दें—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुतकी, मया करत नित रहियो॥
तुम तौ टेंव जानति ही ह्वैहौ, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे लालहिं माखनरोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल देखे ही भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते॥
'सूर' पथिक! सुनि मोहि रैनि-दिन बड़ो रहतु जिय सोच।
मेरो अलक लड़ैतो लालन ह्वैहै करत सँकोच॥

मैं तो तुम्हारे पुत्र की एक तुच्छ धाय हूँ। इस नाते से मुझ पर, आशा है, तुम दया-भाव ही रक्खोगी। है तो ढिठाई, पर, विश्वास है, तुम क्षमा कर दोगी। कृष्ण तुम्हारा जाया हुआ लड़का है। इससे उसका स्वभाव तो तुम जानती ही हो, तुमसे छिपा ही क्या है। पर उस गोपाल का लड़कपन मेरी गोद में बीता है। इससे मैं भी कुछ-कुछ उसकी प्रकृति पहचानती हूँ। मेरे—क्षमा करना मुझे 'मेरे' इस शब्द पर—मेरे लाल को माखन-रोटी बहुत भाती है। सबेरे उठते ही वह मुझ से मचल-मचल कर माखन-रोटी माँगा करता था। वहाँ वह संकोच करता होगा। इसलिए बिना माँगे ही मेरे कन्हैया को तुम माखन-रोटी दे दिया

करो। एक बात और है। उबटन, गरम जल और तेल-फुलेल देखते ही वह भाग जाता है। मैं तो उसे जो-जो वह माँगता, वही वही देकर बड़े लाड़-प्यार से पुचकार-पुचकार कर नहला दिया करती थी। सबसे बड़ी चिन्ता तो उसकी मुझे दिन-रात यह रहती है कि वह तुम्हारे यहाँ बात-बात में संकोच करता होगा। मेरा गोपाल सचमुच बड़ा संकोची है।

पथिक! इतना और तुम महारानी देवकी से जाकर कह देना कि—

तुम रानी बसुदेव-गिरहिनी, हम अहीर ब्रज-बासी।
पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो, वारौं ऐसी हाँसी॥

और, कृपाकर मेरे कन्हैया के पास मेरी आसीस पहुँचा देना। वह राजदरबार में बैठा हो, और शायद तुम्हें तुरन्त न मिल सके; इससे कभी अवसर पाकर इतना तो उसे सुना ही देना—

कहियो स्याम सों समुझाय।
वह नातो नहिं मानत मोहन, मनों तुम्हारी धाय॥
एक बार माखन के काजैं राख्यौ मैं अटकाय।
वाकौ बिलगु मानु मति मोहन लागति मोहि बलाय॥
बारहि बार यहै लव लागी, कब लैहौं उर लाय।
'सूरदास' यह जननी कौ जिय राखौं बदन दिखाय॥

कहाँ तक धीरज बाँधे रहूँ। लोग कितना ही समझाएँ, कुछ समझ में आता नहीं। इस हत्यारे माखन को देखकर छाती में एक शूल-सा उठता है। इसी माखन के पीछे इन हाथों ने—जल

न गये ये दुष्ट हाथ—मेरे मोहन को, मेरे दुलारे गोपाललाल को ऊखल से कस कर बाँध दिया था ! हाय ! उस दिनकी मेरे लाल की वे आँसुओं से भरी हुई लाल-लाल आँखें आज भी इस अभागिनी की अन्धी आँखों में कसक रही हैं। कह देना, पथिक, कि, भैया ! भूल जाओ अब उस दिन की बात, और अपनी उस धाय को अब भी एक बार अपना मुख-चन्द्र दिखाकर माफ़ कर आओ। हाय ! अब उसे कौन वहाँ बिना माँगे माखन-रोटी देता होगा। कौन मेरे प्यारे कृष्ण को अब वहाँ हृदय से लगा-लगा कर प्यार करता होगा। मुझ-जैसी माता के होते हुए भी आज उन बच्चों को परदेश में कितना अधिक कष्ट होता होगा। पथिक ! तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, राम और कृष्ण को इतना तो कृपा कर सुना देना—

कहियो पथिक जाय, घर आवहु रामकृष्ण दोउ भैया।
'सूरदास' कत होत दुखारी, जिनकी मो-सी मैया॥

× × × ×

उधर से भी एक पथिक नन्दगाँव की ओर जा रहा था। सो राम-कृष्ण ने उसके द्वारा नन्दबाबा और यशोदा मैया को अपनी ओर से यह कहला भेजा कि घबराने की कोई बात नहीं, हम दोनों भाई अवश्य आकर आपके श्रीचरणों का दर्शन करेंगे। सूर की ही करुणामयी वाणी में उस सँदेसे को सुनिये—

पथिक, सँदेसो कहियो जाय।
आवेंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय॥

याकौ बिलग बहुत हम मान्यो, जो कहि पठयो 'धाय'।
कहँलौं कीर्ति मानिये तुम्हरी, बड़ो कियौ पय प्याय ॥
कहियो जाय नन्दबाबा सों, अरु गहि पकरौ पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावैं, धूमरि धौरी गाय ॥
जद्यपि मथुरा बिभव बहुत है, तुम बिनु कछु न सुहाय।
'सूरदास' व्रज-वासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय ॥

कहना कि, मैया, माता भी कहीं 'धाय' कही जाती है ? यह तुमने कैसी अनुचित बात कहला भेजी है। इसका हमें सचमुच बड़ा बुरा लगा है। जिसने अपना दूध पिला-पिला कर मुझे इतना बड़ा कर दिया, उस माता की महिमा मैं कैसे कह सकता हूँ। उस यशोदा मैया की पवित्र स्मृति मैं कैसे भुला सकता हूँ ? सच्ची माता तो मेरी, मैया, तुम्हीं हो। अपने को 'धाय' कहकर क्यों मुझे पाप-भागी बना रही हो ? मुझ-जैसा अभागा आज कौन होगा, जिसने अपने बाबा और मैया की कुछ भी सेवा न कर पाई ? हा !

जा दिन तें हम तुम तें बिछुरे, काहु न कह्यो 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्हीं घैया ॥

× × × ×

आज उद्धव व्रज से लौटकर आये हैं। श्रीकृष्ण के आगे आपने तब के नहीं, अबके व्रज का सजीव चित्र खींचकर रख दिया। नन्द-नन्दन अपने बचपन का घर देखने को अधीर हो उठे। उद्धव ने भी बूढ़े बाबा और पगली मैया को एक बार देख

आने का आग्रह किया। नन्द और यशोदा की दशा क्या कहूँ, यदुराज ! कहना चाहूँ तो कह भी नहीं सकता—

नन्द-जसोदा मारग जोवत नित उठि साँझ सबारे।
चहुँ दिसि 'कान्ह-कान्ह' करि टेरत अँसुवन बहत पनारे॥

बाबा और मैया की यह दशा सुनते ही श्रीकृष्ण 'मैया, मैया' की रट लगाकर रोने लगे। मथुराधीश आज 'कन्हैया' बन जाने को व्याकुल हो उठे। माता की वात्सल्य-रस-धारा में कलोल करने की उत्कण्ठा पल-पल पर बढ़ने लगी। उद्धव से अधीर हो कहने लगे—

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृन्दावन गोकुल तन आवत सघन तृनन की छाहीं॥
प्रात-समय माता जसुमति अरु नन्द देखि सुख पावत।
माखन-रोटी-दही सजायौ अति हित साथ खवावत॥

मित्र उद्धव ! यशोदा मैया की वह अनन्त स्नेहमयी गोद क्या मुझे अब कभी बैठने को मिलेगी ? कहाँ गये वे दिन, जब मैं मचल-मचल कर अपनी मैया से माखन माँगा करता था। सखा, आज मेरा मन ब्रज की ओर उड़-सा रहा है। ऐं! मुझे क्या हो गया है, मित्र ! सँभालो, मुझे सँभालो। बाबा, मुझे वहीं बुला लो। मैया, मुझे अपनी गोद में बिठा ले। नेक-सा माखन और दे, मेरी मैया ! हा !

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यो 'कन्हैया'।

× × × ×

आज सूर्य-ग्रहण है। पुण्य-क्षेत्र कुरुक्षेत्र पर इधर से सब यादवों-समेत बलराम और श्रीकृष्ण और उधर से गोप-गोपियों सहित नन्दबाबा आये हैं। कैसा मणि-काञ्चन-योग अनायास प्राप्त हुआ है ! नन्द-यशोदा के सुख-सिंधु की थाह आज कौन पा सकता है। धन्य यह दिवस !

उमग्यौ नेह-समुद्र दसहुँ दिसि, परमिति कही न जाय।
'सूरदास' यह सुख सो जानै, जाके हृदय समाय ॥

कृष्ण-बलराम ने बाबा और मैया का चरण-स्पर्श किया। पगली यशोदा से आसीस भी न देते बनी। स्नेहाधिक्य से मूर्च्छित हो मैया गिर पड़ी। बलिहारी !

तेरी यह जीवन-मूरि, मिलहि किन माई ?
महाराज जदुनाथ कहावत, तेरो तौ वहि कुँवर कन्हाई ॥

मैया के गले से लिपटकर कुँवर कन्हाई भी रोने लगे। मेरी मैया, तूने मुझे पहचाना नहीं क्या ? अरी, मैं तेरा वही लाल हूँ। तू मुझे, मैया; व्रज से माखन-मिश्री लाई है ? लाई तो होगी, पर खिझा-खिझाकर देगी। मैया, तू तो बोलती भी नहीं—

अब हँसि भेंटहुँ, कहि मोहि निज सुत,
'बाल तिहारो हौं' नन्द-दुहाई।

उस समय का वह मिलन-दृश्य जिस किसी ने देखा होगा, उसके भाग्य का क्या कहना—

रोम पुलकि, गद्गद सब तेहि छिन,
जल-धारा नैननि बरसाई।

प्रेम-मूर्ति ब्रज-वासी आनन्द-विह्वल हो कहने लगे—

हम तौ इतने ही सुख पायौ।
सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन बहुरि सुदरस देखायौ॥
कहा भयौ जो लोग कहत हैं, कान्ह द्वारका छायौ।
महाराज ह्वै मात-पितहिं मिलि तऊ न ब्रज बिसरायौ॥

× × × ×

एक बार फिर यह दोहराना पड़ेगा कि वात्सल्य-स्नेह का सूर जैसा भावुक और सच्चा चित्रकार न हुआ है, न होगा। सूर का वात्सल्य-वर्णन पढ़कर, मैं तो दावे के साथ कहता हूँ कि अत्यन्त नीरस हृदय में भी स्नेह और करुणरस की हिलोरें आन्दोलित होने लगेंगी। धन्य, सूर, धन्य! वास्तव में 'तत्त्व तत्त्व सूरा कही।' संगीताचार्य तानसेन की इस उक्ति में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर॥

राष्ट्रभाषा हिन्दी का भविष्य

राजनैतिक पराधीनता पराधीन देश की भाषा पर अत्यन्त विषम प्रहार करती है। विजयी लोगों की विजय-गति विजितों के जीवन के प्रत्येक विभाग पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगाने का सतत प्रयत्न करती है। स्वाभाविक ढङ्ग से विजितों की भाषा पर उनका सबसे पहले वार होता है। भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्व-प्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है, वह उसके विकास का वैभव है। भाषा जीती, और सब जीत लिया। फिर कुछ भी जीतने के लिए शेष नहीं रह जाता। विजितों का अस्तित्व मिट चलता है। विजितों के मुँह से निकली हुई विजयी जनों की भाषा उनकी दासता की सबसे बड़ी चिह्नानी है। पराई भाषा चरित्र की दृढ़ता का अपहरण कर लेती है, मौलिकता का विनाश कर देती है, और नकल करने का स्वभाव बना कर के उत्कृष्ट गुणों और प्रतिभा से नमस्कार करा देती है। इसीलिए, जो देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जाते हैं, वे उस समय तक, जब तक कि वे अपना सब कुछ नहीं खो देते, अपनी भाषा की रक्षा के लिये सदा लोहा लेते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अनेक यूरोपीय देशों के इतिहास भाषा-संग्राम की घटनाओं से भरे पड़े हैं। प्राचीन रोम-साम्राज्य से लेकर अब तक के रूस, जर्मन, इटैलियन, आस्ट्रियन, फ्रेंच और ब्रिटिश सभी साम्राज्यों ने अपने अधीन देशों की भाषा पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। भाषा-विजय का यह काम सहज में नहीं हो गया।

भाषा समर-स्थली के एक एक इञ्च स्थान के लिए बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटने वाले अनेक वीर पुंगवों के समयों में इस विचार का स्थान सदा ऊँचा रहा है कि देश की भौगोलिक सीमा की अपेक्षा मातृभाषा की सीमा की रक्षा की अधिक आवश्यकता है। वे अनुभव करते थे कि भाषा बची रहेगी तो देश का अस्तित्व और उसकी आत्मा बची रहेगी, अन्यथा, फिर कहीं उसका कुछ भी पता न लगेगा।

भाषा-सम्बन्धी सब से आधुनिक लड़ाई आयरलैंड को लड़नी पड़ी थी। पराधीनता ने गैलिक भाषा का सर्वथा नाश कर दिया था। दुर्दशा यहाँ तक हुई कि इने-गिने मनुष्यों को छोड़कर किसी को भी गैलिक का ज्ञान न रहा था, आयरलैंड के समस्त लोग यह समझने लगे थे कि अंग्रेज़ी ही उनकी मातृ-भाषा है, और जिन्हें गैलिक आती भी थी, वे उसे बोलते लजाते थे और कभी किसी व्यक्ति के सामने उसके एक शब्द का भी उच्चारण नहीं करते थे। आत्म-विस्मृति के इस युग के पश्चात्, जब, आयरलैंड की सोती हुई आत्मा जागी, तब उसने अनुभव किया कि उसने स्वाधीनता तो खो ही दी, किन्तु उससे भी अधिक बहुमूल्य वस्तु उसने अपनी भाषा भी खो दी। गैलिक भाषा के पुनरुत्थान की कथा अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण और उत्साहवर्द्धक है। उससे अपने भाव और भाषा को विसरा देने वाले समस्त देशों को प्रोत्साहन और आत्मोद्धार का संदेश मिलता है। इस शताब्दी के आरम्भ हो जाने के बहुत पीछे, गैलिक भाषा के पुनरुद्धार का प्रयत्न

आरम्भ हुआ। देखते-देखते वह आयरलैंड भर पर छा गई। देश की उन्नति चाहने वाला प्रत्येक व्यक्ति गैलिक पढ़ना और पढ़ाना अपना कर्त्तव्य समझने लगा। सौ वर्ष बूढ़े एक मोची से डी-वेलरा ने युवावस्था में गैलिक पढ़ी, और इसलिए पढ़ी कि उनका स्पष्ट मत था कि यदि मेरे सामने एक ओर देश की स्वाधीनता रक्खी जाय और दूसरी ओर मातृ-भाषा, और मुझसे पूछा जाय कि इन दोनों में एक कौन-सी लोगे, तो, एक क्षण के विलम्ब बिना मैं मातृ-भाषा को लूँगा, क्योंकि इसके बल से, मैं देश की स्वाधीनता भी प्राप्त कर लूँगा।

राजनैतिक पराधीनता ने भारतवर्ष में भी उसी प्रकार, जिस प्रकार उसने अन्य देशों में किया, भाषा-विकास के मार्ग में रोड़े अटकाने में कोई कमी नहीं की। इस समय भी हिन्दी को पूरा खुला हुआ मार्ग नहीं मिल रहा है। उसके निज के क्षेत्र पर केवल उसी का आधिपत्य नहीं है। अभी तक इस देश के करोड़ों बालक जिन की मातृ-भाषा हिन्दी थी, कच्ची उम्र ही में साधारण से साधारण विषयों तक की ज्ञान-प्राप्ति के लिए विदेशी भाषा के भार से दाब दिये जाते थे। अब भी उच्च शिक्षा के लिए बालक ही क्या, बालिकायें तक उसी भार के नीचे दबती हैं। उनकी मौलिक बुद्धि व्यर्थ के भार के नीचे दब कर हत-प्रभ हो जाती है, और देश और जाति को उसके लाभ से सदा के लिए वंचित हो जाना पड़ता है। शिक्षित जन अपनी संस्कृति, अपनी भूतकालिक महत्ता, अपने पूर्व्वजों की कृतियों से दूर तो

पड़ हो जाते हैं, वे अपने और अपनों के भी पराये हो जाते हैं। बाल्यकाल से अंग्रेज़ी की छाया में पढ़ने के लिए विवश होने के कारण हमारे अधिकांश सुशिक्षित जनों के चित्त पर अंग्रेज़ी इतनी छा जाती है कि वे बहुधा मन में जो कुछ विचार करते हैं, उसे भी अंग्रेज़ी में ही करते हैं और अपने निकटस्थ जनों से अपनी बात कहते या लिखते हैं तो अंग्रेज़ी ही में। हिन्दी में लिखे हुए अनेक सुशिक्षित सज्जनों की भाषा-शैली से इस बात का पता चल सकता है। उनका शब्द-विन्यास, उनके वाक्यों की रचना और उनका व्याकरण, सभी अंग्रेज़ी के ढंग का प्रतिबिम्ब है। हमारे सुशिक्षितों ही में ऐसे लोग मिल सकते हैं, जो आपस में, यहाँ तक कि पिता-पुत्र और पति-पत्नी तक, अकारण, हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने की अपेक्षा अंग्रेज़ी में उसे करना अधिक अच्छा मानते हैं। यदि आप उनका ध्यान मातृ-भाषा की ओर आकर्षित करें, तो बहुधा यह उत्तर सुनने को मिले कि हिन्दी में अभी शब्दों और मुहावरों का उतना सुन्दर भण्डार नहीं है। हिन्दी की इसी दरिद्रता की दुहाई देकर, उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी का समावेश भी अनिवार्य सिद्ध किया जाता है। किन्तु इस दरिद्रता का दोष जितना हमारे सुशिक्षितों पर है, उतना दूसरों पर नहीं। वे अपनी आवश्यकता को विदेशी भाषा से पूरी कर लिया करते हैं। वे विदेशी भाषा बोलना सुगम समझते हैं। यदि हिन्दी पर कृपा भी करते हैं, तो बहुधा देखने में यह आता है कि उनकी बातों में अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार होती है, और कभी कभी तो उनके वाक्यों की हिन्दी का परिचय केवल

उनकी हिन्दी-क्रियाओं ही से लगता है। यदि हमारे सुशिक्षित इस प्रकार भाषा की अनावश्यक और अपावन वर्ण संकरता न करें, अपने भावों को उसमें व्यक्त करना आवश्यक समझें, तो कुछ ही समय में, हमारी भाषा की उपरि-कथित दरिद्रता दूर हो जाय, और हिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा और ज्ञान का माप-दण्ड भी ऊँचा हो जाय।

संक्षेप में जो लोग हिन्दी को मातृ-भाषा मानते हैं, उनके सामने स्पष्ट ढंग से यह बात सदा रहनी चाहिए कि हिन्दी की जो इधर उन्नति हुई, वह उसकी आगामी बाढ़ के लिए कदापि ऐसी नहीं है कि हम समझ लें कि अब गाड़ी चलती जायगी, वह रुकेगी नहीं, अब, हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी की स्वाभाविक गति के लिए, तो अनेक बाधाओं के हटाने की आवश्यकता है, किन्तु उन सब के दूर होने में, तो, अभी बहुत समय लगेगा, इस बीच में कम से कम हम अवहेलना की बाधा को उपस्थित न होने दें और अचेत न हो जाँय। साहित्यिक ढंग से, मातृ-भाषा के प्रचार और पुष्टि के लिए जहाँ और जिस प्रकार जो कुछ हो सके, उसका करना हम सब के लिये नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी भाषा-भाषियों के उद्योग से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त नहीं हुआ। जैसी परिस्थिति थी, उसको देखते हुए, बा० हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन हिन्दी विद्वान् तो कभी इस बात को व्यावहारिक बात भी नहीं मान सकते थे कि देश के अन्य

भाषा-भाषी लगभग सभी समुदाय हिन्दी को इतना गौरवान्वित स्थान देने के लिये तैयार हो जायँगे। किन्तु सार्वदेशिक आवश्यकतायें बढ़ती गईं, और देश भर के लिए काम करने वालों के सामने प्रकट और अप्रकट दोनों प्रकार से यह प्रश्न उपस्थित होता गया कि वह किस प्रकार अपनी बात को देश के दूर से दूर कोने के झोपड़े-झोपड़े तक पहुँचावें। भगवान बुद्ध ने धर्म के प्रचार के लिये पाली को अपनाया था, देश के वर्तमान कार्य्यकर्ताओं ने युग-धर्म के प्रचार और ज्ञान के लिये अनेक गुणों के कारण हिन्दी को अपनाना आवश्यक समझा। नानक और कबीर, सूर और तुलसी, राष्ट्रभाषा के लिये पहिले ही क्षेत्र तैयार कर गये थे। उनकी वाणी और पद देश के कोने कोने में उन असंख्यों श्रद्धालु नर-नारियों के कण्ठों से आज कई शताब्दियों से प्रतिध्वनित हो रहे हैं, जिनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं है। हिन्दी के फ़ारसी-मिश्रित रूप उर्दू ने भी एक विशेष दिशा में एक बहुत बड़ा काम किया था। देश भर में जहाँ भी मुसलमान बसते हैं, वहाँ की भाषा चाहे कोई भी क्यों न हो, वे उर्दू के रूप में हिन्दी समझते हैं, और हिन्दी बोलते हैं। अंग्रेज़ी शासनकाल में फ़ारसी के स्थान पर आसीन होने पर उर्दू हिन्दी के मार्ग में किसी अंश में कुछ बाधा डालने वाली अवश्य सिद्ध हुई, किन्तु, अब ऐसी कदापि नहीं है, और उसका जन्म हिन्दी के विरोध के लिए नहीं, हिन्दी की वृद्धि के लिए हुआ। मेरी धारणा तो यह है कि उर्दू के रूप में मुसलमान भारतीयों ने हिन्दी

की और भारतवर्ष की अर्चना की। उर्दू वह वाणी-पुष्प है जिसे मुसलमानों ने इस देश के हो जाने के पश्चात्, भक्ति-भाव से माता का अरदास करते हुए उसके चरणों में चढ़ाया। आज नहीं, जब यह राष्ट्र पूर्ण राष्ट्र हो जाने के योग्य होगा, जब संसार के अन्य बड़े राष्ट्रों के समकक्ष खड़े होने में यह समर्थ होगा, उस समय, राष्ट्र-भाषा के निर्म्माण में उर्दू और उसके द्वारा देश की जो सेवा मुसलमान भारतीयों से बन पड़ी, उसका वर्णन इतिहास में स्वर्णाङ्कित अक्षरों में होगा। स्वामी दयानन्द, आर्य-समाज और गुरुकुलों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में बड़ा काम किया। राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों से राष्ट्र-भाषा के आन्दोलन को बहुत बल मिला। सुदूर प्रान्तों तक में राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव होने लगी। कृष्ण स्वामी अय्यर, जस्टिस शारदाचरण मित्र, महाराज सयाजीराव गायकवाड़, जस्टिस आशुतोष मुखर्जी आदि ने आज से बहुत पहले इस दिशा में बहुत उद्योग किया था। अन्य भाषा-भाषियों ने देश-भक्ति और राष्ट्र-निर्माण के विचार से हिन्दी को अपनाना आरम्भ किया। मराठी और गुजराती की साहित्य-परिषदों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया। म० गान्धी के इस प्रश्न के अपने हाथ में लेने के पश्चात् तो राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार विधिवत् अन्य प्रान्तों में होने लगा, और दक्षिण में जहाँ सबसे अधिक कठिनाई थी, बहुत सन्तोषजनक काम हुआ है। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार

कर लिया है, और अब, देश के विविध भागों से आये हुये उसके प्रतिनिधि उसका अधिकांश कार्य हिन्दी में करते हैं । राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का स्थान निर्विवादरूपेण सुरक्षित है । उर्दू वालों को पहिले चाहे जो आपत्ति रही हो, किन्तु अब वे भी इसे मानने लगे हैं कि उर्दू हिन्दी ही का फ़ारसी-मिश्रित रूप है, और कई मुसलमान नेता तक हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के नाम से पुकारना आवश्यक और गौरव की बात समझते हैं । इस द्रुत गति से, बहुत ही थोड़े समय में हिन्दी का इस स्थान को प्राप्त कर लेना देश में नये जीवन के उदय का विशेष चिह्न है ।

राष्ट्रभाषा का काम अभी तक केवल भारत ही में हुआ है, बृहत्तर भारत अभी तक उससे कोरा है । लाखों भारतवासी विदेशों में पड़े हुए हैं, वे अपनी वेश-भूषा और भाषा भूलते जाते हैं । अभी तक वे इस देश के हैं, और देश के नाम पर विदेशों में टूटे-फूटे रूप में हिन्दी को अपनाते हैं । किन्तु धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का अधिकार उन पर से कम होता जाता है, और संभव है कि कुछ समय पश्चात् वे नाम-मात्र ही के लिए भारतीय रह जायँ । उनको अपने बनाये रखने, और हिन्दी का सन्देश संसार के अनेक स्थलों में पहुँचाने का यही सब से सुगम उपाय है कि उन तक राष्ट्र-भाषा हिन्दी का सन्देश पहुँचाया जाय । इस महा-यज्ञ में सब की और सब प्रकार की शक्तियों का संयोजित होना आवश्यक है । कुछ कर सकने योग्य कोई भी भारतीय ऐसा न बचे, जो अपनी शक्ति भर भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा की

भीतरी और बाहरी वृद्धि के काम में हाथ बटाने के लिए आगे न बढ़े।

मनुष्य के भाग्य का नक्षत्र उसे अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्रेरित किया करता है। मनुष्य के समूह, जातियों और राष्ट्रों के रूप धारण करके दैवी बल की प्रेरणा से अपने हिस्से के विश्व-वृत्त की पूर्ति करते हैं। भाषा और उसके साहित्य के जन्म और विकास की रेखायें भी किसी विशेष ध्येय से शून्य नहीं हुआ करतीं। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्यत् भी बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यतायें इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार भर के रंग-मंच पर एक विशेष अभिनय करानेवाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य जाति को उतना ऊँचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आगे चल कर हिन्दी भाषा होने वाली है। हिन्दी को अपने पूर्व-संचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खण्ड में जिस समय सर्वथा अन्धकार था, लोग अज्ञान और अधर्म में डूबे हुए थे, विश्व-बन्धुत्व और लोक-कल्याण का भाव भी उनके मन में उदय नहीं हुआ था, उस समय इस देश से सुदूर देश-देशान्तरों में फैल कर बौद्ध भिक्षुओं ने बड़े बड़े देशों से लेकर अनेकानेक उपत्यकाओं, पठारों और तत्कालीन पहुँच से बाहर गिरि-गुहाओं और समुद्र-तटों तक जिस प्रकार धर्म और अहिंसा का संदेश पहुँचाया था, उसी प्रकार

अदूर भविष्यत् में उन पुनीत संदेश-वाहकों की संतति संस्कृत और पाली की अग्रजा हिन्दी द्वारा भारतवर्ष और उस की संस्कृति के गौरव का संदेश एशिया महाखण्ड के प्रत्येक रंग-मञ्च पर, सुनावेगी। मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जब हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण जगत्-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी, भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्र-भाषा की हैसियत से न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में, किन्तु संसार भर के देशों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान न केवल बोली भर जायगी, किन्तु अपने बल से, संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी, और उसके कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे। संसार की अनेक भाषाओं के इतिहास, धमनियों में बहने वाले ठंढे रक्त को उष्ण कर देने वाली उन मार्मिक घटनाओं से भरे पड़े हैं, जो उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए घटित हुईं। फ्रांस की किरचों की नोक छाती पर गड़ी हुई होने पर भी रूर प्रान्त के जर्मनों ने अपनी मातृ-भाषा के न छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसका अक्षर-अक्षर पालन किया। कनाडा के फ्राँसीसियों का अपनी मातृ-भाषा के लिये प्रयत्न करना किसी समय अपराध था, किन्तु घमण्डी मनुष्यों के बनाये हुए इस कानून का मातृ-भाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया। इटली, आस्ट्रिया के छीने हुए भू-प्रदेशों के लोगों के गले के नीचे ज़बर्दस्ती अपनी भाषा उतारना चाहता था, किन्तु वह अपनी

समस्त शक्ति से भी मातृ-भाषा के प्रेमियों को न दबा सका। आस्ट्रिया ने हंगरी को पद-दलित कर के उसकी भाषा का भी नाश करना चाहा, किन्तु आस्ट्रिया-निर्मित राज-सभा में बैठ कर हंगरी वालों ने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बोलने से इन्कार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के जेनरल बोथा ने केवल इस बात के सिद्ध करने के लिये कि न उनका देश विजित हुआ और न उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेज़ी जानते हुए भी, बादशाह जार्ज से साक्षात् होने पर अपनी मातृ-भाषा डच में बोलना ही आवश्यक समझा, और एक दो-भाषिया उनके तथा बादशाह के बीच में काम करता था।

यद्यपि हिन्दी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार के खुले प्रहार नहीं होते, किन्तु ढँके मुँदे प्रहारों की कमी भी नहीं है, जो उस पर और इस प्रकार, देश की सु-संस्कृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्यत् पर है, हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिए, और जितने बल और क्रिया-शीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत-गति के साथ हम अपनी भाषा की त्रुटियों को पूरा करेंगे और उसे ३२ करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्र-भाषा के समान बलशाली और गौरव-युक्त बनावेंगे, उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य्य की रश्मियाँ दूर दूर तक समस्त देशों में पड़ कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का संदेश पहुँचावेंगी, उतने ही शीघ्र हमारी भाषा

में दिये गये भाषण संसार की विविध रंगस्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति-मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा, और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार, जिस प्रकार आयरलैंड के प्रतिनिधियों ने इंगलैंड से अन्तिम सन्धि करते और स्वाधीनता प्राप्त करते समय, अपनी विस्मृत भाषा गैलिक में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता-पत्र पर हिन्दी भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे।

कहानी

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हरएक बालक को अपने बचपन की वह कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी माता व बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किस तरह सब कुछ भूल कर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुन कर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बालजीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने, मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये; पर वह कहानियाँ अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है क वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हरेक ज़बान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा; लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा सरित-सागर', 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। यह उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदा प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुन कर हम अपने बाप-दादों की भाँति ही आज

भी प्रसन्न होते हैं। हमारा ख़याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ़लैला की कथाओं का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती और अगर काउंट टाल्सटाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ़लैला के सामने स्वयं टाल्सटाय के "वार ऐंड पीस' और ह्यूगो के 'ला मिज़रेबल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियाँ और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायँगे। जनरुचि परज और विहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसन्द करती है। बिरहों और ग्राम-गीतों में बहुधा बड़े ऊँचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएँ बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिसपर मनुष्य के आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानवी हृदय के साँचे में पकड़ कर संस्कृत हो गई हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है, पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका, रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का संदेश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोड़े से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्र से बढ़ने न पावें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविकता से दूर हो कर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझाने वाले थोड़े-से कलाविद् ही रह जाते हैं, उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा कहानियाँ अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं, पर उनमें उस रस की कमी है, जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गई है। हम हरेक विषय की भाँति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत-प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ काँटे पर तौलते हैं और उसे जौ-भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग

नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते हैं कि किन मनोभावों से प्रेरित होकर उसने यह काम किया, अतएव मानसिक द्वंद्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अंग है।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिलकुल नैपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था, लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टि-कोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसके रूप देखते रहते हैं और ये भाव जितने व्यापक और गहरे अनुभवपूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिये कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाए जाते हैं।

यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है; पर साहित्यिक मनोरंजन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हम में सत्य,

निस्स्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वह जागृत हों। वास्तव में मानवी आत्मा की वह चेष्टा है, जो उसके मन में अपने आपको पूर्ण रूप में देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानवी हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता है। जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात्—जीवन के अनंत प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वह सर्वथा अस्वाभाविक हैं; पर यह स्वार्थ और अहंकार और ईर्षा की बाधाएँ न होतीं, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती। शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी-न-किसी भाव को प्रकट कर देती है, आत्मा की ज्योति की आंशिक झलक दिखा देती है और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है; पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा

लीजिए, उसमें कहानियों ही की प्रधानता होगी। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियाँ पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नहीं मिटती, जो इच्छा-पूर्ण भोजन चाहती है; पर फलों और मिठाइयों की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियों से तृप्त हो जाती है। हमारा ख़याल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण संसार के प्राणियों को एक दूसरे के जितना निकट कर दिया है, उनमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज़ ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठ कर भी उनको उत्पन्न करने वाले प्राणियों से बिलकुल अपरिचित रहते हैं; लेकिन मोपासाँ अनाटोल फ्रांस, चेखव और टाल्सटाय की कहानियाँ पढ़ कर हमने फ्रांस और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों, द्वीपों और पहाड़ों को लाँघता हुआ फ्रांस और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहाँ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान, मज़दूर और विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानों उनसे हमारा घनिष्ट परिचय हो। अब लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि कहानी कोरी गप नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हज़ार वर्ष पहले यूनान के विख्यात फिलासफर अफ़लातूँ ने कहा था कि हरेक काल्पनिक रचना में मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य

हैं, जितने आज से पाँच हज़ार साल पहले थे, हालांकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन में सदैव परिवर्तन और परिवर्धन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धान्त, जो एक ज़माने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गए हैं; पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि 'कथा में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं'। गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है; किसी दशा में भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन-सत्य कहलाता है।

दुबे जी की डायरी

अपने राम की डायरी में सन्-संवत्, तारीख-मिती अथवा डेट, मास-महीना तथा मंथ और वार-दिन या डे का पता नहीं मिलेगा। क्योंकि जब तक जिस घटना की तारीख, दिन और महीना संवत् याद रहता है तब तक वह डायरी में नहीं चढ़ाई जाती। जो घटना ज़बानी याद है उसे डायरी में चढ़ाने से क्या फ़ायदा? जब मिती तथा सन् संवत् इत्यादि मस्तिष्क की कोठरी खाली करके खिसक जाते हैं और घटना भी बोरिया-बँधना सँभालने लगती है तब घटना की दुम पकड़ कर उसे डायरी के कारागार में बंद करना पड़ता है। इसलिए अंत में केवल घटना ही घटना कब्ज़े में रह जाती है। और सच पूछिए तो आवश्यकता भी घटना ही की है। बीती हुई घटना पर चाहे जौन सा महीना तारीख और संवत् फिट कर लीजिए सब ठीक है। अपने राम जब स्कूल में पढ़ते थे तो इतिहास की घटनाओं का सन् संवत् कभी याद नहीं करते थे। इस बात में शिक्षकों से अपने राम का सदैव मतभेद रहता था। शिक्षक कहते थे कि नादिरशाह ने जिस सन् में हिंदुस्तान पर चढ़ाई की वह सन् याद रखना आवश्यक है। अपने राम कहते थे यह बिलकुल फिज़ूल बात है। नादिरशाह ने चढ़ाई की बस इतना याद रखना काफ़ी है। सन् याद रखने से फ़ायदा! भूतकाल का

एक वर्ष हज़ार वर्षों के बराबर है। जो दिन बीत गया वह गया— उसे गये चाहे एक दिन समझो, चाहे सौ दिन, सब ठीक है। सन् संवत् तो भविष्य का याद रखने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे— किसी ज्योतिषी ने भविष्य-वाणी की कि अमुक तारीख़ को भूकंप आवेगा। तो वह तारीख याद रखना आवश्यक है। क्योंकि यदि वह तारीख याद न रहेगी तो भूकंप से बचेंगे कैसे? ख़ैर, अब मतलब की बात सुनिए।

एक बार अपने राम को संपादक बनाने की धुन सवार हुई। क्योंकि बिना संपादक बने ज़िंदगी का लुत्फ़ नहीं। दूसरे एक ज्योतिषी ने जन्मपत्र देख कर बताया था कि "आपका अफ़सरी का योग है, कुछ दिनों के लिए आप अफ़सर बन कर हुकुम चलावेंगे।" अपने राम ने बहुत सोचा कि आखिर अफ़सर कैसे बनेंगे? फ़ौज़, पुलिस तथा अन्य कोई सरकारी नौकरी अपने राम को पसंद नहीं, क्योंकि उसके मिलने की कोई उम्मीद नहीं। यदि उम्मीद हो तो पसंद करने का प्रयत्न भी किया जाय। तब फिर अफ़सर कैसे बनेंगे? फ़िलहाल तो लल्ला की महतारी के मारे अपने घर की अफ़सरी भी प्राप्त नहीं, बाहर का जिक्र ही क्या है। आखिर बहुत सोचा-विचारा, दिमाग़ पर बहुत ज़ोर दिया तो झट यह ख़याल आया कि इस ज़माने में संपादकी भी एक अफ़सरी ही है। संपादक का हुक्म लेखकों, उपसंपादकों, प्रूफ़रीडरों, कंपोज़ीटरों, प्रिंटरों तथा पत्र-ग्राहकों इत्यादि-इत्यादि सब पर चलता है। सच पूछिए तो इससे बढ़कर कोई अफ़सरी ही नहीं है।

ख़ैर साहब, संपादक बनना तो तय हो गया, परंतु जिस पत्र का संपादक बनना चाहिए—उसका अस्तित्व नदारद ! अब क्या किया जाय ? सोचते-सोचते यह निश्चय किया कि कोई पत्र अपने आप तो अपने राम को संपादक बनाने से रहा। अतएव हमीं को चल फिर कर किसी पत्र के पास पहुँचना चाहिए। राज्य करने के लिए राजा लोग चढ़ाई करके राज्य को अपने अधिकार में करते हैं। इसी प्रकार अपने राम को भी चढ़ाई करके किसी पत्र पर अधिकार जमाना चाहिए। यह सोच कर एक पत्र के दफ़्तर में जा पहुँचे। इस दफ़्तर से एक दैनिक, एक साप्ताहिक और एक मासिक—तीन पत्र निकलते थे। आफ़िस के द्वार पर पहुँच कर चपरासी के साथ मैनेजर साहब के पास गये। उन्होंने देखते ही मुसकरा कर कहा—"आइए दुबे जी। कहिए आज कैसे कृपा की ?" अपने राम बोले—"हम आपके यहाँ संपादकी करने आए हैं।"

"अच्छा ! तब तो हमारा अहोभाग्य है।"

"बेशक ! अहोभाग्य न होता तो हम स्वयं चलकर न आते।

मैनेजर कुछ क्षण सोचकर बोला—"कहिए किस विभाग की संपादकी कीजिएगा, साप्ताहिक की, दैनिक की अथवा मासिक की ?" अपने राम बोले—"संपादकी तो दैनिक की ही अच्छी है जिसमें रोज़-रोज़ संपादकी करने को मिलती है।"

मैनेजर ने कहा—"परंतु मेरी सलाह यह है कि पहले आप साप्ताहिक से आरंभ करें। दैनिक में परिश्रम भी अधिक पड़ेगा और दैनिक के काम के योग्य अभी आपको अनुभव भी न होगा।"

"अजी अनुभव की बात आप क्या कहते हैं। संपादकी भी कोई बज्राजी है जो अनुभव की आवश्यकता हो! संपादकी ही तो क्या एक ऐसा पेशा है जिसमें अनुभव की ज़रा भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जहाँ थोड़ा लिखना-पढ़ना आया और दो-चार लेख किसी पत्र में निकल गये, बस संपादक बनने के क़ाबिल हो गये।"

मैनेजर साहब हँसकर बोले—"वाह यह आपने अच्छी कही। संपादकी के लिए बड़े अनुभव की आवश्यकता है। पश्चिमी देशों में तो यह कला बाक़ायदा सीखनी पड़ती है। कई वर्षों तक सीखने के पश्चात् तब संपादन-कला का ज्ञान होता है।"

अपने राम बिगड़ कर बोले—"पश्चिमी देशों की बात हिंदुस्तान पर लागू नहीं होती। हिंदुस्तानियों में तो यह गुण ईश्वरप्रदत्त है। हिंदुस्तानी पैदायशी संपादक होते हैं। उन्हें यह कला सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।"

मैनेजर साहब घबरा कर बोले—"अच्छा साहब जैसा आप कहें—वैसा ही सही। अच्छा तो आप साप्ताहिक में कुछ दिन काम कीजिये। कुछ दिन बाद जब आप भली भाँति काम करना सीख जायँगे तो तनख़्वाह निश्चित कर दी जायगी।"

"काम सीख जायँगे!" बस यही बात मत कहिए। तनख्वाह चाहे मत दीजिए। हम सिखा सकते हैं—सीख तो सात जन्म में भी नहीं सकते। रही तनख्वाह, सो उसकी चिंता अपने राम को नहीं है। क्योंकि अपने राम को एडीटरी से प्रेम हो गया है।

मैनेजर ने कहा—"अच्छी बात है जैसी आपकी इच्छा।"

ख़ैर साहब, अपने राम जब साप्ताहिक विभाग में पहुँचे तो मालूम हुआ कि उसमें एक प्रधान संपादक तथा दो उपसंपादक पहले ही से डटे हुए हैं। यह बात अपने राम को बहुत अखरी। क्योंकि अपने राम तो निष्कंटक राज्य चाहते थे। ख़ैर यह सोच कर सब्र किया कि कुछ दिनों पश्चात् इन सब को धता बता कर अपने राम अकेले ही संपादक बन जायँगे।

बड़े संपादक जी ने एक अँग्रेज़ी का समाचार पत्र देकर कहा—"इसमें जिन-जिन समाचारों पर निशान लगे हैं उनका अनुवाद हिंदी में कर डालिए।"

इतना सुनते ही अपने राम के मिज़ाज़ का पारा खून खौलाने वाली डिग्री तक पहुँच कर रुक गया। अतएव अपने राम बिगड़ कर बोले—"देखिए जनाब! हम संपादकी करने आए हैं, अनुवाद सनुवाद हम से न होगा। यह काम कंपोज़ीटरों का है, संपादकों का नहीं।"

संपादक जी चकित होकर बोले—"क्या कहा! कंपोजीटरों का है?"

"जी! आप इतना ही सुन कर चौंक पड़े। यदि मैं प्रधान संपादक होता तो अंग्रेजी पढ़े लिखे कंपोजीटर रखता जो अंग्रेज़ी समाचार पत्र सामने रख कर उसे हिंदी में कंपोज करते, उससे समय की कितनी बचत होती?"

"परंतु ऐसे कंपोंजिटर मिलते कहाँ?"

"अजी मिलने की न कहिए। जब परमात्मा मिल सकता तो सब कुछ मिल सकता है। ढूँढने वाला चाहिए।"

"अच्छा लेख ही लिखिए। पर ईश्वर के लिए कुछ कीजिए तो।"

"देखिए साहब, आपके मिज़ाज़ में जल्दबाजी बहुत है। अभी हम नये आदमी हैं। चार-छः दिन यहाँ का रँग-ढँग देख लें, तब कुछ लिखेंगे।"

"अच्छा कम से कम इतना तो कीजिए कि स्थानीय समाचार ही लिख डालिए।"

"मुझे सख्त अफ़सोस है कि इतनी देर में आपने एक भी काम की बात नहीं कही। स्थानीय समाचार देना बिलकुल फजूल बात है।"

संपापक जी झल्लाकर बोले—"अच्छा तो प्रेस का चक्कर लगा आइए—देखिए, सब लोग ठीक तरह से काम कर रहे हैं या नहीं।"

इतना सुनते ही अपने राम की बाछें खिल गई। यह काम है। इसी के लिए तो हम संपादक बने हैं। अपने राम झट उठे और चारों तरफ़ का चक्कर लगा आए। किसी को डाँटा किसी को समझाया, किसी को फटकारा, किसी को घूर कर देखा। अपने राम के एक ही चक्कर से सब तरफ़ सन्नाटा हो गया।

दूसरे दिन मैनेजर साहब ने बुलाकर कहा—"आप दैनिक विभाग में काम कीजिए। साप्ताहिक विभाग में काफ़ी आदमी हैं।" अपने राम बोले—"बड़ी अच्छी बात है। हम तो यह चाहते हैं कि रोज़ संपादन को मिले।"

दैनिक विभाग में पहुँचे तो वहाँ भी एक प्रधान संपादक और कई उपसंपादक मौजूद थे। बड़े संपादक जी कुछ तार सामने रख

कर बोले—"इन तारों को पढ़ कर इनका सारांश हिन्दी में लिख डालिए।"

अपने राम बहुत खिन्न हुए। सोचने लगे—क्या इन्हीं ऊलजलूल कामों को ये लोग संपादन करना समझते हैं। संपादक से कहा—"यदि सच पूछिए तो तारों की शोभा अंग्रेज़ी में ही है—हिंदी में रूपान्तरित हो जाने पर इनकी सब शान मिट्टी में मिल जाएगी।"

संपादक जी बोले—"यह नई बात सुनने में आई।" अपने रामने कहा—"अब हम आए हैं। दो-चार नई बातें रोज़ सुनने में आएँगी।"

संपादक जी ने पूछा—"आप मनोरंजन लिख सकते हैं?"

अपने राम अकड़ कर बोले—"हाँ, यह तो अपने राम का पालतू विषय है।"

"अच्छी बात है—तो बस आप मनोरंजन ही लिखिए। पर ऐसा लिखिएगा कि जिसको पढ़कर मुझे भी हँसी आ जाय।"

"मैं ऐसा मनोरंजन लिख सकता हूँ कि जिसको पढ़कर गधे तक हँसने लगें—आप तो कोई चीज़ नहीं हैं। परन्तु आपको कभी हँसी आती भी है?"

"क्यों? इसका क्या मतलब?"

"आपका चेहरा तो यह कहता है कि हँसी कभी आपके मुहल्ले से भी न निकलती होगी। पितृपक्ष का जन्म तो नहीं है आपका?"

"जी नहीं, मैं हँसता हूँ और खूब हँसता हूँ।"

"बिलावजह?"

इस पर संपादकजी ने इस प्रकार घूर कर देखा मानो खा जायँगे। मैंने बात का प्रसंग बदलने के लिए कहा—"मनोरंजन लिखवाना है तो शहर के सेठ-साहूकारों पर, म्यूनिसिपेलिटी के मेंबरों पर लिखवाइए तो कुछ आनंद भी आवे। ऐसी फब्तियाँ जमाऊँ कि याद करें।"

"इस से क्या होगा ?"

"सारे शहर पर आपकी धाक जम जायगी। बहुत से बोदे दिल के आप से डरने लगेंगे। ब्याह-बरातों तथा पार्टियों में सब से पहले आप बुलाए जाएँगे। लोग आपकी खुशामद इस डर से करते रहेंगे कि कहीं हमारे संबंध में कोई एँडी-बेंडी बात न लिख दें। असली संपादन तो यही है। मुख्य लेख, टिप्पणियाँ और समाचार तो सभी लिख लेते हैं। इनमें कौन खूबी है ?" संपादकजी ने अपने राम की बात का कोई उत्तर न दिया।

तीसरे दिन मैनेजर साहब ने बुलाकर कहा—"आप मासिक विभाग में काम कीजिए। दैनिक में आपकी आवश्यकता नहीं है।"

अतएव अपने राम मासिक विभाग में गए। वहाँ भी कई संपादक डटे थे। अपने राम के दुर्भाग्य से कोई विभाग ऐसा न मिला जहाँ अपने राम "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" बन कर रहते।

मासिक विभाग के बड़े संपादक ने पूछा—"आप पुस्तकों की समालोचना लिख सकते हैं ?" अपने राम बोले—"ऐसी समालोचना लिखूँ कि लेखक सन्यास लेकर संसार छोड़ दें और प्रकाशक पुस्तकों का काम छोड़ कर परचूनी की दुकान कर लें।"

संपादकजी ने कुछ पुस्तकें दीं। अपने राम ने पुस्तकें देखीं। उनमें एक पुस्तक ऐसी थी जिसे देखकर अपने राम प्रसन्नता के मारे उछल पड़े। वह पुस्तक एक ऐसे लेखक की लिखी हुई थी जिस पर अपने राम हृदय से नाराज़ थे। क्यों नाराज़ थे ? इसका पता अपने राम को भी नहीं था।

संपादकजी अपने राम की प्रसन्नता देखकर बोले-"क्यों क्या बात है ?"

"एक लेखक है। बहुत दिनों के बाद फँसा है। अब कहाँ जायगा ? ऐसी आलोचना लिखूँ कि भागते रास्ता न मिले।"

संपादकजी ने पुस्तक देख कर कहा—"ये बड़े अच्छे लेखक हैं। यह पुस्तक भी अच्छी लिखी है। ठीक-ठीक समालोचना कीजिएगा।"

"आप इस झगड़े में मत पड़िए। हम संपादक हैं। हमारे जो मन में आएगा सो लिखेंगे। अच्छे को ख़राब और ख़राब को अच्छा बनाना संपादकों के बाएँ हाथ का खेल है। सो हम संपादक हैं। हम जो लिखेंगे वही मान्य होगा। इन महाशय पर दो-चार लेख भी लिखूँगा। इनको साहित्यक्षेत्र से भगाकर छोड़ूँगा। संपादन इसी का नाम है और सब राम का नाम है।"

"मैं ऐसा बेवकूफ़ नहीं हूँ कि आपकी ऊटपटाँग बातें छपने दूँ।"

"अगर आप ऐसा करेंगे तो बड़ी गलती करेंगे। यदि आप मुझे स्वेच्छापूर्वक लिखने दें तो केवल आपका पत्र ही सर्वश्रेष्ठ रह जाय और सबको रद्दी कर डालूँ। अन्य पत्रों की जिन बातों

को लोग गुण समझते हैं उन्हीं को ऐब प्रमाणित करके दिखाऊँ। जिसे लोग सर्वश्रेष्ठता समझते हैं उसे सर्वनिकृष्टता बना कर छोड़ूँ। जिस साहित्यिक के पीछे पड़ जाऊँ उसे मिट्टी में मिल जाना पड़े। संपादन इसी का नाम है।"

संपादक जी ने पुस्तकें समेट लीं और बोले—"आप कष्ट मत कीजिए, हम समालोचना लिख लेंगे।"

"अच्छी बात है। परंतु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आप संपादन-कला में बिलकुल ही कोरे हैं।"

"आपकी बला से।"

चौथे दिन आफ़िस जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि चपरासी ने एक चिट्ठी लाकर दी। उसमें मैनेजर साहब की ओर से लिखा हुआ था—"प्रिय दुबे जी, इस समय आपके योग्य कोई स्थान हमारे यहाँ खाली नहीं है। स्थान रिक्त होने पर आपको सूचना दी जायगी।"

इस प्रकार अपने राम तीन दिन की अफ़सरी के बाद निकाल बाहर किए गए। यह अपने राम का दुर्भाग्य है अन्यथा हमारे जैसे अनेक संपादन-कला-कोविद अच्छे-अच्छे पत्रों के संपादक हैं।

खैर अपने रामकी जन्मपत्री की विधि तो मिल गई— इतना ही संतोष है।

हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी

हिन्दी—संस्कृत की *स* ध्वनि फ़ारसी में *ह* के रूप में पायी जाती है अतः संस्कृत के 'सिन्धु' और 'सिन्धी' शब्दों के फ़ारसी रूप 'हिन्द' और 'हिन्दी' हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' शब्द फ़ारसी भाषा का ही है। संस्कृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इसका व्यवहार नहीं किया गया है। फ़ारसी में 'हिन्दी' का शब्दार्थ 'हिन्द से संबंध रखने वाला' है, किन्तु इसका प्रयोग 'हिन्द के रहने वाले' अथवा 'हिन्द की भाषा' के अर्थ में होता रहा है। 'हिन्दी' शब्द के अतिरिक्त फ़ारसी से ही 'हिन्दू' शब्द भी आया है। फ़ारसी में हिन्दू शब्द का व्यवहार 'इस्लाम धर्म के न मानने वाले हिन्दवासी' के अर्थ में प्रायः मिलता है। इसी अर्थ के साथ यह शब्द अपने देश में प्रचलित हो गया है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है किन्तु आज कल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत के मध्य भाग के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि भाग की सीमायें

पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती हैं। इस भूमि भाग में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोल-चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक मात्र हिन्दी ही है। साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है किन्तु साथ ही इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा के ही अन्तर्गत माना जाता है। हिन्दी भाषा का यह प्रचलित अर्थ है। इस समस्त भूमिभाग की जनसंख्या लगभग ११ करोड़ है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ऊपर दिये हुए भूमिभाग में तीन चार भाषायें मानी जाती हैं। राजस्थान की बोलियों के समुदाय को 'राजस्थानी' के नाम से पृथक् भाषा माना गया है। बिहार में मिथिला और पटना-गया की बोलियों तथा संयुक्त प्रान्त में बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बोलियों के समूह को एक भिन्न 'बिहारी' भाषा माना जाता है। उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों की बोलियें भी 'पहाड़ी भाषाओं' के नाम से पृथक् मानी जाती हैं। इस तरह से भाषा शास्त्र के सूक्ष्म भेदों की दृष्टि से 'हिन्दी भाषा' की सीमायें निम्नलिखित रह जाती हैं:—उत्तर में तराई, पश्चिम में पंजाब के अम्बाला और हिसार के ज़िले तथा पूरब में फ़ैज़ाबाद, प्रतापगढ़

और इलाहाबाद के ज़िले। दक्षिण की सीमा में कोई परिवर्तन नहीं होता और रायपुर तथा खंडवा पर ही यह जाकर ठहरती है। इस भूमिभाग में हिन्दी के दो उप-रूप माने जाते हैं जो पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी के नाम से पुकारे जाते हैं। हिन्दी बोलनेवालों की संख्या लगभग ६१/२ करोड़ है। भाषा-शास्त्र से संबंध रखनेवाले ग्रंथों में 'हिन्दी भाषा' शब्द का प्रयोग इसी भूमि-भाग की बोलियों तथा उनकी आधारभूत साहित्यिक भाषाओं के अर्थ में होता है। इस पुस्तक में भी वर्तमान शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार इसी अर्थ में हिन्दी शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि शास्त्रीय दृष्टि से बिहारी भाषा के अन्तर्गत समझी जाने वाली बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी बोली का वर्णन भी प्रायः हिन्दी की बोलियों के साथ ही कर दिया गया है।

हिन्दी शब्द के शब्दार्थ, प्रचलित अर्थ, तथा शास्त्रीय अर्थ के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। साहित्यिक पुस्तकों में इस शब्द का प्रयोग चाहे किसी अर्थ में किया जाय किन्तु भाषा से संबंध रखनेवाले ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक वैज्ञानिक खोज के अनुसार दिये गये अर्थ में ही करना उचित होगा।

उर्दू—आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम उर्दू है जिसका व्यवहार उत्तर भारत के समस्त पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा उनसे अधिक संपर्क में आनेवाले कुछ हिन्दुओं जैसे पंजाबी, देसी काश्मीरी तथा पुराने कायस्थों आदि में पाया जाता है। भाषा की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक भाषाओं

में विशेष अन्तर नहीं है। वास्तव में दोनों का मूलाधार एक ही है किन्तु साहित्यिक वातावरण, शब्द समूह, तथा लिपि में दोनों में आकाश पाताल का भेद है। हिन्दी इन सब बातों के लिये भारत की प्राचीन संस्कृति तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है; उर्दू भारत के वातावरण में उत्पन्न होने और पनपने पर भी फ़ारस और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू का जन्म पहले हुआ था। भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसलमानों का केन्द्र देहली रहा अत: फ़ारसी, तुर्की और अरबी बोलनेवाले मुसल्मानों ने जनता से बातचीत और व्यवहार करने के लिये धीरे धीरे देहली के अड़ोस-पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में अपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतन्त्रता-पूर्वक मिला लेना इनके लिये स्वाभाविक था। इस प्रकार की बोली का व्यवहार सब से प्रथम "उर्दू-ए-मुअल्ला" अर्थात् देहली के महलों के बाहर 'शाही फौजी बाजारों' में होता था अत: इसी से देहली के पड़ोस की बोली के इस विदेशी शब्दों से मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' पड़ा। 'उर्दू' शब्द का अर्थ बाजार है। वास्तव में आरम्भ में उर्दू बाजारू भाषा थी। शाही दरबार से संपर्क में आने वाले हिन्दुओं का इसे अपनाना स्वाभाविक था क्योंकि फ़ारसी-अरबी शब्दों से मिश्रित किन्तु अपने देश की एक बोली में इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियों से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी। जैसे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर भारतीय भाषायें बोलनेवाले

भारतीय अंग्रेजी से अधिक प्रभावित होने लगते हैं उसी तरह मुसल्मान धर्म ग्रहण कर लेनेवाले हिन्दुओं में भी फारसी के बाद उर्दू का विशेष आदर होना स्वाभाविक था। धीरे धीरे यह भारतीय मुसल्मान-जनता की अपनी भाषा होगई। शासकों द्वारा अपनाये जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट समुदाय की भाषा मानी जाने लगी। जिस तरह आज कल पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी के मुँह से 'मुझे चान्स (Chance) नहीं मिला' निकलता है, उसी तरह उस समय 'मुझे मौका नहीं मिला' निकलता होगा। जनता इसी को 'मुझे औसर नहीं मिला' कहती होगी और अब भी कहती है। बोल-चाल की उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुआ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उर्दू का मूलाधार देहली के निकट की खड़ी बोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की भी मूलाधार है। अतः जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर इन दोनों में जो अन्तर हुआ उसे रूपक में यों कह सकते हैं कि एक तो हिन्दुआनी बनी रही और दूसरी ने मुसल्मान धर्म ग्रहण कर लिया। एक अंग्रेज़ विद्वान् ग्रैहम बेली महोदय ने उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में एक नया विचार रक्खा है। उनकी समझ में उर्दू की उत्पत्ति देहली में खड़ी बोली के आधार पर नहीं हुई बल्कि इससे पहले ही पंजाबी के आधार पर यह लाहौर के आसपास बन चुकी थी और देहली में आने पर मुसल्मान शासक इसे

अपने साथ ही लाये थे। खड़ी बोली के प्रभाव से इसमें बाद को कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु उसका मूलाधार पंजाबी को मानना चाहिये खड़ी बोली को नहीं। इस सम्बन्ध में बेली महोदय का सब से बड़ा तर्क यह है कि देहली को शासन केन्द्र बनाने के पूर्व १००० से १२०० ईसवी तक लगभग दो सौ वर्ष मुसलमान पंजाब में रहे। उस समय वहाँ की जनता से संपर्क में आने के लिये उन्होंने कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी और यह भाषा तत्कालीन पंजाबी ही हो सकती है। यह स्वाभाविक है कि भारत में आगे बढ़ने पर वे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे हों। बिना पूर्ण खोज के उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस समय सर्व-सम्मत मत यही है कि उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिन्दी दोनों की मूलाधार देहली-मेरठ की खड़ी बोली ही है।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण हैदराबाद के मुसलमानी दरबार से आरम्भ हुआ। उस समय तक देहली-आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फ़ारसी को मिला हुआ था। साधारण जन-समुदाय की भाषा होने के कारण अपने घर पर उर्दू हेय समझी जाती थी। हैदराबाद रियासत की जनता की भाषायें भिन्न द्राविड़ वंश की थीं अतः उनके बीच में यह मुसल्मानी आर्य भाषा, शासकों की भाषा होने के कारण, विशेष गौरव की दृष्टि से देखी जाने लगी इसीलिये उसका साहित्य में प्रयोग करना बुरा

नहीं समझा गया। औरंगाबादी वली उर्दू साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वली के क़दमों पर ही मुग़ल-काल के उत्तरार्द्ध में देहली और उसके बाद लखनऊ के मुसल्मानी दरबारों में भी उर्दू भाषा में कविता करनेवाले कवियों का एक समुदाय बन गया जिसने इस बाज़ारू बोली को साहित्यिक भाषाओं के सिंहासन पर बैठा दिया। फ़ारसी शब्दों के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को 'रेख़्ता' (शब्दार्थ 'मिश्रित') कहते हैं। स्त्रियों की भाषा 'रेख़ती' कहलाती है। दक्षिणी मुसल्मानों की भाषा 'दक्खिनी' उर्दू कहलाती है। इसमें फ़ारसी शब्द कम इस्तेमाल होते हैं और उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा यह कम परिमार्जित है। ये सब उर्दू के रूप-रूपान्तर हैं। हिन्दी भाषा के गद्य के समान, उर्दू भाषा का गद्य-साहित्य में व्यवहार अंग्रेज़ी शासन-काल में ही आरम्भ हुआ। मुद्रणकला के साथ इसका प्रचार भी अधिक बढ़ा। उर्दू भाषा अरबी-फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाती है। पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त में कचहरी, तहसील और गाँव में अब भी उर्दू में ही सरकारी क़ाग़ज़ लिखे जाते हैं। अतः नौकरीपेशा हिन्दुओं को भी इसकी जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। आगरा-देहली की तरफ के हिन्दुओं में इसका अधिक प्रचार होना स्वाभाविक है। पंजाबी भाषा में साहित्य न होने के कारण पंजाबी लोगों ने तो इसे साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा है। हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में हिन्दुओं के बीच में उर्दू का प्रभाव प्रति दिन कम हो रहा है।

हिन्दुस्तानी—'हिन्दुस्तानी' नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी या उर्दू भाषा का बोलचाल का रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है। केवल बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण इसमें फ़ारसी अथवा संस्कृत शब्दों की भरमार नहीं रहती यद्यपि इसका झुकाव उर्दू की तरफ अधिक रहता है। कदाचित् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हिन्दुस्तानी उत्तर भारत के पढ़े-लिखे लोगों की बोलचाल की उर्दू है। उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू के समान ही इसका आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से यह हिन्दी-उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है क्योंकि यह फ़ारसी-संस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है। दक्षिण के ठेठ द्राविड़ प्रदेशों को छोड़ कर शेष समस्त भारत में हिन्दी-उर्दू का यह व्यवहारिक रूप हर जगह समझ लिया जाता है। कलकत्ता, हैदराबाद, बंबई, कराची, जोधपुर, पेशावर, नागपुर, काश्मीर, लाहौर, देहली, लखनऊ, बनारस, पटना आदि सब जगह हिन्दुस्तानी बोली से काम निकल सकता है। अंतिम चार-पाँच स्थान तो इसके घर ही हैं।

साधारण श्रेणी के लोगों के लिए लिखे गये साहित्य में हिन्दुस्तानी का प्रयोग पाया जाता है। क़िस्से, ग़ज़लों और भजनों आदि की बाज़ारू किताबें जो जन-समुदाय को प्रिय हो जाती हैं फ़ारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छापी जाती हैं। इस ठेठ भाषा में कुछ साहित्यिक पुरुषों ने भी लिखने का प्रयास किया है। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'बोलचाल' हिंदुस्तानी को साहित्यिक बनाने के प्रयोग हैं जिसमें ये सज्जन सफल नहीं हो सके।

खड़ी बोली शब्द का प्रयोग प्राय: देहली-मेरठ के आस-पास बोली जानी वाली गाँव की भाषा के अर्थ में किया जाता है। भाषा सर्वे में ग्रियर्सन महोदय ने इस बोली को 'वर्नाक्यु-लर हिन्दुस्तानी' नाम दिया है। मेरी समझ में खड़ी बोली नाम अधिक अच्छा है। जैसे ऊपर बतलाया जा चुका है हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी इन तीनों रूपों का मूलाधार यह खड़ी बोली ही है। कभी कभी ब्रजभाषा तथा अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं के मुकाबले में आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को भी खड़ी बोली नाम से पुकारा जाता है। ब्रजभाषा और इस 'साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी' का झगड़ा बहुत पुराना हो चुका है। साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी खड़ी लगती है कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी-बोली पड़ा। हिन्दी, उर्दू साहित्यिक खड़ी-बोली मात्र हैं। 'हिन्दुस्तानी' शिष्ट लोगों के बोलचाल की कुछ परिमार्जित खड़ी-बोली है।

मौत के मुँह में

मेरे शिकारी मित्र पं० लक्ष्मीदत्त बड़े ही ज़िन्दादिल आदमी हैं। शिकारी में जो गुण चाहिए, वे सब उनमें हैं। संकट के समय, जब बाघ आक्रमण कर बैठे, साहस के साथ अपने साथी का साथ देना और शिकार-सम्बन्धी विषय के मूल तत्व को समझ कर काम करना और बीहड़ तथा अगम्य स्थानों में पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर बनना—ये सब गुण लक्ष्मीदत्तजी में हैं।

उनमें और मुझ में एक भारी भेद है। उन्हें शिकार खेलने और खाने का दोनों शौक है। मैं शिकार खेलने को कला की दृष्टि से देखता हूँ। कट्टर निरामिषभोजी होने के कारण मेरा शिकार खेलना गुनाह बेलज्ज़त है। अन्य व्यसनों की भाँति शिकार भी एक व्यसन है; पर यह व्यसन अन्य व्यसनों की अपेक्षा कहीं अच्छा है। मेरी तो यह धारणा है कि विद्यार्थियों के लिए—विशेष कर उनके लिए, जिनकी धमनियों में उष्ण-रक्त प्रवाहित हो रहा है और जिनकी जीवन-यात्रा का मध्याह्न नहीं हुआ—शिकार खेलना—साहस के पुतले बनना—परमावश्यक है। नवयुवकों को शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत होना चाहिए। 'उभयोरपि सामर्थ्यं शापादपि शरादपि' वाली बात होनी चाहिये।

हाँ, तो बाघ से भिड़न्त के उपरान्त अगले दिन प्रात:काल लक्ष्मीदत्त जी आये। मेरी सूरत-शकल देखकर—यह निश्चय कर के कि मेरे कहीं चोट नहीं है—उन्होंने दूसरे बाघ की बात छेड़ी।

मैंने कहा—भई, रहने भी दो। हम लोग कोई खुदाई फौजदार तो हैं नहीं, जो ईश्वर की सृष्टि में हर जगह हस्तक्षेप करते फिरें। कल तो एक बाघ मारा ही है, जिसमें मैं खुद भी शिकार हो गया होता। आखिर ऐसी भी क्या लत !

लक्ष्मी०—हमारी लत क्या है ? कहीं महीना दो महीने में तो बाहर निकलते हैं। आप तो किताब के कीड़े हैं। क्या बुराई है, जो अवकाश के समय एक दुष्ट आततायी को मारने चलते हैं ? रही मारने की [illegible], सो हिंसा-अहिंसा की बात तो मैं नहीं समझता। मैं तो बाघ मार कर मुर्गी, हरिन और तीतरों के मारने का पाप—यदि यह पाप है तो—कम किया करता हूँ। और फिर जो शत्रु को पाले, वह तो मूर्ख है, क्योंकि "पय:पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ।

मैं—खैर, लम्बी-चौड़ी बातें न बनाओ। स्पष्ट यह कहो कि आज भी शिकार को चलेंगे। शास्त्र की बातें न करो। शास्त्र की बातें तो शैतान भी कर सकता है।

लक्ष्मी—चाहे कुछ सही। शैतान नहीं, शैतान का नगड़दादा बनाइये, पर चलिये। आज इतवार है। कल फिर वही पढ़ाने की घिस-घिस।

मैं—अच्छी बात है, पर आज तुम्हारी परीक्षा है। यदि बाघ

मिला, तो तुम्हें ही पहला फ़ायर करना होगा। बहुत दिनों से तुमने कोई बाघ नहीं मारा। मुझे ही मारना पड़ता है।

लक्ष्मी०—अच्छी बात है। आज बाघ को इस लोक से परलोक पठाने का पुण्य मैं ही करूँगा। आप सेनापति बने रहिये। तो मैं जाता हूँ। (जाते हुए)—हम लोग दो बजे जंगल की ओर चलेंगे।

× × × ×

भोजन किया और कुछ आराम करके हम लोग जंगल की तरफ चल दिये। मेरी ढाई बरस की लड़की 'कमला' रोने लगी, और कहने लगी—"बाबू जी, मैं भी छाथ चलूँगी।"

"मैं बाघ मारने जाता हूँ बिटिया!"—मैंने कहा। "मैं भी तो बाघ मारूँगी"—उसने सिसकते हुए कहा। यह सुन कर हम सब लोग हँसने लगे, पर उसकी समझ में कुछ न आया। मचलती ही रही।

एक मील तक हमारा मार्ग नदी के किनारे-किनारे था। भागीरथी की सहायक—भिलंगना—धनुषाकार में उछलती-कूदती, अपने सहवासी शैलशिखरों, द्रुमदलों और अलिचुम्बित पुष्पों को अन्तिम प्रणाम और कदाचित् हमारा तिरस्कार करती हुई अपने प्यारे से मिलने के लिए दौड़ी जा रही थी। यों तो प्राकृतिक दृश्य नयनाभिराम था। वन की एक-एक वस्तु जीवन के लिए एक सबक़ था। पर, कितने हैं माई के लाल, जो साधारण घटनाओं से शिक्षा लें। केवल महान् आत्माएँ ही—जो ब्रह्म की ज्योति अधिक परिमाण में लेकर आई हैं—बाज़ के चिड़िया को मारने और किसी शव के

देखने से संसार में युगान्तर कर देती हैं. और भगवान् 'बुद्ध' कहाती हैं।

फलों का गिरना न्यूटन से पहले किसने नहीं देखा था? पर, आकर्षण-शक्ति (Law of gravitation) का सिद्धान्त उसी को सूझा। कितने हैं ऐसे, जो पीड़ितों का चीत्कार सुनकर उनकी भलाई के लिए अपना जीवन होम दें? विशेष आत्माओं पर ही विशेष प्रभाव होता है। शेष लोग तो दुर्वासनाओं की पूर्ति के पातक पुञ्ज हैं।

मानव प्रकृति प्रति दिन एक ही वस्तु देखते-देखते ऊब जाती है। आगरेवालों को ताजमहल देखने का कौतूहल नहीं होता। वृन्दावन-वासियों को 'कालिंदी कूल कदम्ब की डारिन' में वह आकर्षण नहीं, जो एक नवागन्तुक यात्री को होता है। हम लोगों को मार्ग के दृश्य में कोई विशेष आनन्द नहीं मिल रहा था। वह तो रोज़ की चीज़ थी। उससे हम अघा चुके थे। इसीलिए, समय बिताने के लिए मैंने लक्ष्मीदत्त जी से किसी पहाड़ी गीत को पहाड़ी लोगों की टोन में गाने के लिये आग्रह किया और घाटी शीघ्र ही "सड़क की घूमा, सदा नी रहँदी जवानी की धूमा" से गूँज गई। पहाड़ की चोटियों पर गाने की भी छूत होती है। एक आदमी ने आवाज़ लगाई कि बस घास काटने वाले—जिस प्रकार एक कुत्ते का भूँकना सुनकर और कुत्ते भूँकने लगते हैं—हू—हा करके गानें—रेंकने लगते हैं।

ऐसी ही बातों में हम लोग गाँव के पास आ गये। हमारे

परिचित बूढ़े ने हमारा स्वागत किया। बूढ़ा और उसकी बुढ़िया दरिद्रता, दीनता और दुःख की साक्षात् मूर्ति थे। ग़रीबी का चित्र-चित्रण करना साधारण लेखनी का काम नहीं। मेरी लेखनी में वह ओज कहाँ? उसमें इतनी शक्ति नहीं, जो उनका चित्र खींच सके। रूस के प्रसिद्ध लेखक इवान टुर्गनेव की प्रतिभा चाहिये। उसके अभाव में ग्रामीणों को अधोगति का वर्णन करना कठिन है।

बूढ़ा एक छोटी-सी भग्नावशेष कुटिया में रहता है। कुटिया के सामने एक छोटा सा बाड़ा है। उसी में उसके पशु बँधते हैं। दो छोटे-छोटे बैल, दो गायें—जो बाघ द्वारा मारी गईं—और एक गाय का बच्चा, हल और थोड़ा-सा बीज—बस यही उसकी पूँजी है। बर्तनों में तवा, करछी, पतीली, थाली, तीन गिलास और दो लोटे हैं। कपड़ों में—बुढ़िया जो कुछ पहने है—एक जीर्ण-शीर्ण कुर्ता, एक पेवंददार पहाड़ी धोती है और गहनों में नाक में सौभाग्य का चिह्न पीतल की नथ है। बूढ़ा एक लंगोट पहने और हाथ में हुक्का लिए—जिसको उसके दादा ने देहरादून से मोल लिया था—हमारी ख़ातिर में लगा था। कभी नमक लाता था और कभी दही। यदि आतिथ्य का तात्पर्य प्रेम, सहृदयता और जो कुछ अपने पास रूखा-सूखा हो, उसका खिलाना है, तो बूढ़े का आतिथ्य उस षड्रस भोजन से सौगुना अच्छा था, जो कलह-कूप-अट्टालिकाओं में बड़ी शान के साथ दिया जाता है। सत्कार के सात्त्विक भाव से बूढ़े की आँखें चमक रही थीं, और बाघ के मरने पर उसे जो

प्रसन्नता हुई थी वह कदाचित् कैसर के पतन से लायड जार्ज को भी न हुई हो। बूढ़े के सामने यदि प्रसिद्ध शिकारी सर सैम्युएल बेकर भी आ जाते, तो वह उनका भी इतना क़ायल न होता जितना कि वह हमारा था। जनता के मन पर प्रत्यक्ष बात का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना किसी दूर की सुनी सुनाई चीज़ का नहीं।

× × × ×

दही पीकर हम जंगल की ओर चले। साथ में बूढ़ा और सात-आठ आदमी थे। बाघ की भेंट को एक बकरा भी ले लिया था। लोगों के हाथों में दरातियाँ थीं। दो-एक ने लट्ठ भी ले लिये थे। गाँव से जंगल की ओर को ढलवाँ उतार था, इसलिए, बटिया पर हम लोग एक के पीछे एक होकर चले। एक स्थान पर पहुँच कर यह सोचा कि यदि बाघ आस-पास आधे मील पर कहीं होगा, तो बकरे की आवाज़ सुन कर अवश्य आयेगा। बाघ को जब बकरा बाँध कर मारना हो, तो बाँधने का स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ से आवाज़ दूर तक सुनाई पड़ सके। गहरे गढ़े में—जहाँ से बकरे का मिमियाना पहाड़ की एक ही ओर तक सुनाई पड़ सके—बकरे को बाँधना ठीक नहीं। साथ ही स्थान चारों ओर से आठ-आठ, दस-दस गज़ तक खुला होना चाहिए, जिससे बाघ आक्रमण करने से पहले ही, घात लगाते समय ही, मारा जा सके। प्राय: यह देखने में आया है कि लोग बकरे को झाड़ी के पास बाँध देते हैं, जहाँ से एक गज़ चारों ओर कुछ भी

दिखाई नहीं पड़ता। फल-स्वरूप बाघ बकरे को खाकर दबोच कर—लेकर चम्पत होता है, और शिकारी साहब या तो काठ के उल्लू की तरह बैठे रहते हैं या अन्धाधुन्ध फायर करते हैं और बाघ के स्थान में बकरे को ही गोली मार देते हैं। बकरे को इतनी मज़बूती से तीन खूँटों से बाँधना चाहिये कि बाघ के आक्रमण के धक्के से रस्सी टूट न जाय। लक्ष्मीदत्त जी ने बकरे को इसी भाँति खूब कड़ा बाँधा। बकरा बाँधने से पहले हम लोगों ने अपने बैठने का स्थान बना लिया था। हमारे बैठने का स्थान बकरे से बीस-पचीस गज़ दूर ऊँचे पर था। ऊँचे पर, इसलिए जिससे बाघ, परमात्मा न करे, घायल होकर हम लोगों पर धावा कर बैठे, तो समतल भूमि की अपेक्षा चढ़ाई पर कठिनाई से चढ़ सकेगा। हम दोनों पहले अपनी जगह पर चुपचाप बैठ गये, जिससे बकरे को यह न मालूम होने पाये कि उसके समीप कोई आदमी है। ऐसा मालूम होने से बकरा उसी ओर देखता रहता है और मिमियाना बंद कर देता है। उसे आदमी का सहारा हो जाता है। सहारे की आशा मनुष्य और पशु दोनों को होती है।

जब हम लोग बैठ गये, तब गाँव वाले हो-हल्ला करते हुए चले गये, जिससे बाघ को यह मालूम हो कि किसान लोग जंगल में थे और सायंकाल को नियमानुसार चले गये।

हम दोनों निर्जन स्थान में चोरों की भाँति छिपे—घात लगाये—बाघ की जान के गाहक बन बैठे थे, और बेचारा बकरा नीचे की

ओर बीस पच्चीस गज की दूरी पर चिल्ला-चिल्ला कर आकाश-पाताल एक कर रहा था। उसे अपनी जान के लाले पड़े थे। बेचारे को इतनी समझ कहाँ कि उसका चिल्लाना बाघ का आह्वान करना था।

पूर्णिमा थी, इसलिये प्राची दिशा से, रात्रि होते ही, शशि-देव अपनी पूर्ण कान्ति से बड़ी सजधज से निकले। हमें उस समय चन्द्रमा की चन्द्रिका से प्रेम न था। हम तो, 'काकचेष्टा बकध्यानं' से बाघ की टोह में थे। बकरे की भें-भें और में-में अनन्त रूप से जारी थी। हम लोग भी अपने स्थान से—जहाँ हमें कोई देख न सकता था—बाघ के आगमन की प्रतीक्षा में थे। ७, ८, ९ बज गये। बाघ को आना होता, तो सायंकाल होते ही आ जाता। ऐसे जंगल में, जहाँ पर सायंकाल के समय कोई आदमी रहने का साहस न कर सकता था, यदि बाघ होता, तो बकरे की बोली पर जल्दी ही आता। यों तो सायंकाल होते ही जंगल में जंगली जानवरों की गति से एक—चहल-पहल थी; पर इस चहल-पहल से हमें क्या मतलब ? प्रतीक्षा करते-करते दस बजने आये और लक्ष्मीदत्त जी को सिगरेट पीने की इच्छा हुई; पर मैंने संकेत से उन्हें ऐसा न करने दिया, क्योंकि बाघ को चौकन्ना करने और भगाने के लिए तनिक सा सन्देह ही पर्याप्त होता है। बाघ का मारना क्या है, उसको ठगना है। जो वीरता और होश-हवास रखते हुए उसे धोका दे सकेगा, वही उसे मार सकेगा। रही मरने-जीने की बात, सो तो बाघ के शिकार में अपना शिकार कभी भी और कैसे भी हो सकता है।

साढ़े ग्यारह बजे के लगभग हमसे चार-पाँच फर्लांग की दूरी पर काकड़ (Barking Deer) बोला । काकड़ प्राय: भयभीत होकर या बाघ को देखकर बोलता है। कदाचित् बाघ ही हो। इसलिए, हम अपनी बन्दूकें हाथ में लेकर बैठ गये। एक टक हो आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहे थे। एक बज गया; पर बाघ न आया। इससे हम हतोत्साह न हुए। पुराने पापी थे। बाघ के स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। हम जानते थे कि अपने भोजन—बकरे—पर बाघ जल्दी भी आ सकता है, और सोच समझ कर, घंटों में, देर से भी। इतने में हमसे पचास गज़ की दूरी पर एक पत्थर लुढ़का, और फिर कोई आहट न हुई । उससे हमें विश्वास हुआ कि हो न हो [illegible] ही है। दूर से ही बैठकर उसने बकरे को देखा है और बहुत देर तक इसी आशंका में था कि कहीं कोई खटका न हो। बकरे के साथ कहीं छली प्रपञ्ची मनुष्य न हो। यह विश्वास करके कि कोई भय नहीं है, बाघ आगे बढ़ता प्रतीत हुआ। बकरे ने बाघ को देखकर मिमियाना बंद कर दिया, और सुकड़ कर पूँछ हिलाता हुआ कातर दृष्टि से देखने लगा। सम्मुख मौत को नंगा नाचता देख कर बकरा बेबस–गुमसुम होकर–काँपता हुआ खड़ा हो गया। अभी बाघ खुले मैदान में नहीं आया था—कम-से-कम हम लोगों ने उसे न देखा था; पर बकरे की दृष्टि उसपर पड़ गई थी। थोड़ी देर उपरांत जंगल के किनारे से दो चमकती हुई गोलियाँ-सी दिखाई दीं। वह चौंधिया देने वाली भयावह ज्योति बाघ की आँखों की थी।

अजगर और बाघ की आँखों में मोहक शक्ति होती है। वह शक्ति बकरे के और हमारे सामने थी। मैंने धीरे से लक्ष्मीदत्त जी को अपने हाथ से दबाया। उत्तर-स्वरूप उन्होंने भी वही संकेत किया। शिकार के समय बोलना और हिलना-डुलना मूर्खता है। शिकार के संकेत होते हैं। उन्हीं संकेतों से—वाणी के संकेत से नहीं, वरन हाथ दबाने से—हम तैयार हो गये। बाघ ने जब देखा कि झाड़ी से एक छलाँग में बकरे तक नहीं पहुँच सकता, तब वह धीरे-धीरे बिल्ली की भाँति घात लगाये हुये आगे बढ़ा और अपने स्नायु और पुट्ठों को इकट्ठा करके वज्र की भाँति हो बैठा। यह आसन घातक था और बकरे के जीवन के कुछ ही क्षण शेष प्रतीत होते थे। पर नहीं। 'धाँय' की प्रलयकारी ध्वनि हुई, और लक्ष्मीदत्त जी ने दुनाली बन्दूक़ से एकदम दोनों घोड़े दाग़ दिये। बन्दूक़ के शब्द का उत्तर, बाघ ने हृदय कँपानेवाली गर्जन से दिया। बाघ के गोली तो लगी थी, पर मर्मस्थान पर नहीं। पेट में लगी। मैं अपनी रायफल लिये बैठा था। मैं चाहता तो एक गोली बाघ के खोपड़े पर मार सकता था, पर उस दिन का सेहरा तो लक्ष्मीदत्त जी के सिर पर था। चोट खा कर बाघ गरजा और छटपटा कर विद्युत्-गति से लपक कर अंदाज से, हम लोगों की ओर बढ़ा। हमारे होश उड़ गये और समझ लिया कि बस हिंसा के पापों का प्रायश्चित्त—'सर्वंवै पूर्णं स्वाहा' —हो गया। हाँफते हुए बाघ को ऊपर तेज़ी से चढ़ते देखकर मैंने रायफ़ल दाग़ दी; पर निशाना चूक गया। रात्रि का समय!

रायफ़ल का निशाना और तिस पर दौड़ते हुए बाघ पर !! झट से खाली कारतूस निकाल फेंका और दूसरा कारतूस नाल में पहुँचाया।

इतने में लक्ष्मीदत्त जी अभी अपनी बन्दूक़ के खाली कारतूस निकाल कर नए कारतूस लगा ही पाये थे कि बाघ ने आकर अगले पंजे की थाप हमारी आड़ पर मारी। सब झाड़, लकड़ी—हमारी सब क़िलेबन्दी—टूट गई। हम बाघ के सम्मुख बैठे थे। मैंने एक फ़ायर और किया, और वह जल्दी में उसकी छाती में लगने के बजाय उसकी मेरी ओर वाली अगली टाँग में तिरछा लगा जिससे उसकी वह टाँग बिलकुल बेकार होगई; पर उफ़ ! उसने दूसरे पंजे से वज्र-प्रहार किया। उस समय का स्मरण करके मेरा कलेजा अब भी दहल जाता है। लेखनी मेरी उस समय की मनोवृत्ति को व्यक्त नहीं कर सकती। उस अचूक क्रूर प्रहार से लक्ष्मीदत्त-जी लोट-पोट होकर नीचे की ओर निर्जीव पत्थर की भाँति लुढ़कने लगे। प्रहार के समय लक्ष्मीदत्त जी ने केवल यही शब्द निकाले—"मास्टर जी, बुरी तरह मरा।" उनकी बन्दूक़ मेरी ओर आ गिरी। मेरा सिर चकरा गया। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। बाघ के भय से नहीं, अपनी मौत की आशंका से भी नहीं, वरन् अपनी वृद्धा माता के एक-मात्र सहारे लक्ष्मीदत्त जी के लिये। उनकी पत्नी अपने......का समाचार सुनकर कैसे सिर धुनेगी ! लक्ष्मीदत्त जी के घर में तीन प्राणी थे। उनकी अट्ठाईस-तीस बरस की स्त्री पाँच-छै महीने की एक बालिका और

उनकी पैंसठ वर्षीया माता, जो लक्ष्मीदत्त जी की केवल दो वर्ष की आयु में विधवा होगई थीं। ऐसे कुटम्ब पर यह विपत्ति—यह-वज्राघात और उसका समाचार देने वाला मैं! यह मुझसे कैसे हो सकेगा? किस मुँह से मैं नगर को लौटूँगा? मैंने यह शर्त क्यों की थी कि आज पहले फ़ायर लक्ष्मीदत्त जी को करना पड़ेगा? नैतिक दायित्व तो मुझ पर था। होने को तो वही होता है, जो भगवान की इच्छा होती है; पर मुझको उसका साधन क्यों बनाया?

पता नहीं, बाघ लक्ष्मीदत्त जी को कहाँ खींच ले गया और उनके शरीर की क्या दुर्गति की होगी--ये विचार आते ही मैं पागल-सा हो जाता था। अन्धाधुन्ध फ़ायर करना निरर्थक था। कहीं लक्ष्मीदत्त जी में जीवन शेष हो, तो मेरी बिना निशाने की गोली के वे निशाना न बन जायँ। यदि उन्हें ढूँढा भी जाय, तो कहाँ? पर प्रातःकाल तक प्रतीक्षा भी कैसे की जाय? अच्छा हो, मेरी जीवन-लीला भी समाप्त हो जाय।

एक वृद्धा असहाय स्त्री का शाप और चीत्कार तो न सुनूँगा, एक युवती पत्नी का हृदय दहलाने वाला विलाप तो कानों में न पड़ेगा। इस उद्विग्नता में रायफ़ल वहीं पटक दी और दुनाली बन्दूक़—जिसे लक्ष्मीदत्त जी ने भरा था—उठाकर बाघ और लक्ष्मीदत्त जी के लुढ़कने की ओर उतरा। बन्दूक़ की नाल खोल कर देखा, तो दोनों नालों में ग्राफ़ भरे हुए थे। कारतूसों को नालों में फिर रखकर मैं नीचे की ओर चला। पन्द्रह-बीस गज़ की उतराई उतर कर बकरे वाले मैदान में आना ही चाहता था कि

कोई लम्बी-सी चीज़ पड़ी हुई जान पड़ी। ख़याल हुआ लक्ष्मीदत्त जी का शव होगा। पर नहीं, वह तो बाघ था। मैंने समझा राक्षस बाघ लक्ष्मीदत्त जी का काम तमाम करके मरा है। मैं ऐसा ही सोच रहा था कि बाघ एकदम तड़पा, और यदि मैं बन्दूक़ की नाल उसके मुँह में डालकर और दोनों नालों से फ़ायर करके उसका मस्तिष्क न उड़ा देता, तो वह एक ही चोट में मेरा भी काम तमाम कर देता। बाघ तो मर गया, पर मुझे तो लक्ष्मीदत्त जी की खोज करनी थी। बकरे पर इतना क्रोध आ रहा था कि उसको भी खतम करदूँ। किस मुहूर्त में उसको लिया, जो ऐसी घटना हुई। खुली जगह के चारों ओर ढूँढा पर लक्ष्मीदत्त न मिले। हारकर और उत्साह-हीन होकर फिर ऊपर—बैठने की जगह पर—चढ़ा, और वहाँ से फिर अन्दाज़ लगा कर नीचे उतरा और कुछ ही दूर पर लक्ष्मीदत्त जी को पड़ा पाया। देख कर पहले तो माथा ठनका। हृदय की गति बढ़ गई। चित्त कहता था कि कहीं जीवित ही न हों। मनुष्य संदिग्धावस्था में भँवर में पड़ी हुई लकड़ी के समान होता है जो कभी उछलती है और कभी डूबती।

साहस करके मैं उनके सिर के पास बैठ गया और हाथ उठाकर नाड़ी देखी। हैं! यह क्या। नाड़ी तो चल रही थी। गति बहुत मन्द थी। मैंने आव गिना न ताव जेब में से ब्राण्डी की शीशी निकाल कर लक्ष्मीदत्तजी का मुँह खोलकर गले में एक तोले के लगभग ब्राण्डी उतार दी। मैं न तो मदिरा का पियक्कड़ हूँ और न कभी उसे पीता ही हूँ, पर शिकार में कुछ औषधियाँ साथ रखता हूँ और उनमें से

एक ब्राण्डी भी है। ब्राण्डी के पेट में जाते ही लद्मीदत्त जी ने झट से आँखें खोल दीं और कराहने लगे। मैंने कहा—"तुमसे अधिक बुरी हालत मेरी रह चुकी है—घायल नहीं हुआ, पर मानसिक घायल रह चुका हूँ। कराहो मत। दियासलाई दो आग जलाऊँ। जाड़े के मारे हड्डियाँ तक गली जाती हैं। तुम्हारे घाव फिर देखूँगा। बाघ पास ही मरा पड़ा है।"

लक्ष्मी०—"ऐं ? मरा पड़ा है ??"

मैं—"हाँ मरा ही पड़ा है। अन्त में उसे मेरी भी गोली खानी पड़ी।"

× × × ×

आग जलाई और लक्ष्मीदत्त जी को वहाँ पर बड़ी कठिनाई से सहारा देकर लाया और उनकी चोट की देख भाल की। बातें करते-करते और पट्टी बाँधते-बूँधते प्रातःकाल होगया।

जिस समय बाघ हमारे पास आ गया था और मैंने फ़ायर किया था, लक्ष्मीदत्त जी ने फ़ायर करने का अवसर न पाकर अपनी खुखरी का वार बाघ की छाती पर किया था और लक्ष्मीदत्त जी के वार के कारण ही मेरी गोली ठीक निशाने पर नहीं बैठी थी। फिर बाघ ने एक थाप लक्ष्मीदत्त जी के मारी। पंजे का पूरा आघात उन की बन्दूक पर पड़ा था, इसलिये बन्दूक़ मेरे आगे आ गिरी थी। बाघ के पंजे के केवल दो नख उनकी भुजाओं पर पड़े थे। वह कमीज़, स्वेटर-कोट, कोट और चेस्टर पहने हुए थे, पर फिर भी बाघ के नख कपड़ों को पार कर गये और उनकी बाँह के

पुट्ठों को कपड़ों के आवरण से बाहर निकाल दिया। इस झटके के मारे लक्ष्मीदत्त जी ऐसे दूर जा गिरे, जैसे कोई खिलाड़ी गेंद को उठाकर फेंक देता है। लक्ष्मीदत्त जी ने समझा कि बस अन्त आगया। उन्हें फेंककर बाघ फिर उनके पास गया और उनकी गर्दन पकड़ कर भँभोड़ना चाहता था कि लक्ष्मीदत्त जी ने अपनी बची-खुची शक्ति को एकत्र करके—एक अन्तिम वार अपनी खुखरी से किया। बाघ चोट खा कर उछला, गिरा और बेहोश हो गया। उधर लक्ष्मीदत्त जी भी अचेत होगये।

लक्ष्मीदत्त जी के खुरसटें बहुत थीं। उनकी एक उँगली भी उतर गई थी। आँख और चेहरे पर ऐसे चिह्न हो गये थे, मानो किसी ने हंटर मारे हों।

× × × ×

बाँह के घाव की बड़ी चिन्ता थी। बाघ के नख की चोट से घाव विषैला (Septic) हो जाता है। हम लोगों ने टिहरी आकर किसी से यह न कहा कि बाघ ने लक्ष्मीदत्त जी को घायल किया है। वृद्धा माता के प्रेमजन्य कोप का भाजन कौन बनता ? यही कह दिया कि गिर कर चोट आई है और पत्थर चुभ गया है। वृद्धा माता आँखों से लाचार हैं, इसलिए उनपर चाल चल गई और टिहरी वालों को—अपने घनिष्ट मित्रों तक को भी—लक्ष्मीदत्त जी की रोमांचकारी घटना और हम लोगों के मौत के मुँह में से जीवित निकल आने की बात आज तक मालूम नहीं है। शहर में तो बस यही खबर हुई 'मास्टर साहब ने एक और बाघ

मारा है', पर मास्टर साहब के व्यथित हृदय को ये लोग क्या समझें कि उनपर बाघ के मारने के समय क्या बीती थी ।

लक्ष्मीदत्त जी ने दस-बारह दिन की छुट्टी ली और धीरे-धीरे वे अच्छे हो गये और शीघ्र ही अपने उदर को जंगली मुर्ग़, चकोर और तीतर की क़ब्र बनाने लगे ।

मैंने परब्रह्म को कोटिश: धन्यवाद दिया और अपने भाग्य को सराहा कि उस दिन मेरे साथी की जान बच गई, मुझे अपना खयाल न था । यों मरने-जीने को तो--

"एक जाता है तो आता है जहाँ में दूसरा ।
उसकी महफ़िल का कभी ख़ाली मकाँ होता नहीं ॥"

●

पहला पाठ

काशी की 'कौतुक' नामक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका को कौन नहीं जानता था। साल में १२ विशेषांक निकालना इसी का काम था। देश में नमक सत्याग्रह आरम्भ होते ही इसने अपना साँभर विशेषांक निकाला। प्रयाग में रामलीला के अवसर पर हिन्दू-मुस-लिम दङ्गा समाप्त भी नहीं हुआ था कि इसने अपना सुरसा विशेषांक निकाल दिया। प्रधान सम्पादक के पुत्र की बरही भी न बीती थी कि इसका सौरी विशेषांक निकल गया।

खेद है मार्च १९३२ में इस उपयोगी पत्रिका का जीवनकाल समाप्त हो गया। इसके दो सम्पादक थे। एक रोज दोनों आपस में लड़ पड़े और एक दूसरे पर पेपर-वेट फेंकने लगे। एक पेपर-वेट बहक कर बग़ल में बैठे हुए संचालक महोदय के ब्रह्माण्ड पर जा गिरा। उन्होंने अपनी कच्ची गृहस्थी का ख़याल करके 'कौतुक' को उसी क्षण बन्द कर दिया।

'कौतुक' का स्मरण मुझे इस समय एक ख़ास वजह से हो आया। उसके अंतिम अंक में पं० बिलवासी मिश्र का एक लेख छपा था। लेख महाकवि 'चच्चा' के सम्बन्ध में था, और अत्यन्त गवेषणापूर्ण था। उससे उस महाकवि के जीवन के एक अध्याय

पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसके आवश्यक अंश को मैं ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर देता हूँ। बिलवासी जी ने लिखा था—

ऐसा प्रसिद्ध है कि कवि 'चच्चा' जब सत्रह या अट्ठारह वर्ष के हुए तब उनके हृदय में काव्य-रचना की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। लेकिन वह समय घोंघापन्थी का था। लोग कविता सीखने के लिए एक गुरु का होना आवश्यक समझते थे। कवि 'चच्चा' भी इसी पुराने ख़याल के आदमी थे। उन्हें खबर लगी कि गङ्गा-के उस पार रेती पर छप्पर डालकर एक बड़े प्रतिभाशाली कवि निवास करते हैं। उनकी टोह लेने पर कई मज़ेदार बातें मालूम हुईं। एक तो यह कि उनकी कुटी में एक किनारे कुछ टीन के कनस्तर रखे हैं, किसी पर रस, किसी पर अलंकार, किसी पर नायिकाभेद आदि लिखा है। जिस कनस्तर पर जो लिखा है उस में उसी विषय के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। जान पड़ता है इन कनस्तरों की संख्या बारह थी, क्योंकि उनके एक शिष्य ने कवि 'चच्चा' से एक बार बड़े अभिमानपूर्वक कहा कि हमारे गुरु महाराज ने बारह कनस्तर विद्या पढ़ी है।

गुरु महाराज के सम्बन्ध में दूसरी बात बड़ी विचित्र यह थी कि उन्होंने अपने जीवन से गद्य का पूर्ण बहिष्कार कर रक्खा था। कई बरस से उन्होंने यह व्रत ले रक्खा था कि पद्य छोड़ कर वे गद्य में किसी से बात तक न करेंगे, चाहे लाख अड़चन पड़े और बड़े-से-बड़ा अकाज हो जाय।

ख़ैर, कवि 'चच्चा' ने इन्हीं से शिक्षा लेने की ठानी। भरणी-

भद्रा बचाकर वे इनके यहाँ पहुँचे। देखा कि गुरुमहाराज कुटी के बाहर एक चटाई पर बैठे हैं। बगल में एक कनस्तर रक्खा है जिसमें से एक पोथी निकालकर वे पढ़ रहे हैं। सामने लोहे का पिंजड़ा है जिसमें एक तोता है जो कहता है—'जगण मगण, आगतपतिका, लाटानुप्रास, छेकापह्नुति, जगण मगण, टेंटें......'

कवि 'चच्चा' गुरुमहाराज के पैर छू कर बैठ रहे। थोड़ी देर दोनों एक दूसरे की ओर ग़ौर से देखते रहे, फिर गुरुमहाराज ने कहा—

रे बालक नादान कहाँ सोये से जागा।
किस माता की गोद किये सूनी उठि भागा॥

कवि 'चच्चा' ने विनयपूर्वक निवेदन किया कि मैं बालक नहीं हूँ, मेरी उम्र १८ वर्ष की है और मेरी शादी हो चुकी है। इसपर गुरु महाराज ने प्रश्न को तुरन्त दूसरा रूप देकर पूछा—

कहिये कृपानिधान कहाँ से कैसे आये।
किस बिरहिन की सेज किये सूनी उठि धाये॥

कवि 'चच्चा' ने इस बार अधिक स्पष्ट शब्दों में गुरुदेव को समझाया कि मैंने न किसी माता की गोद सूनी की है और न किसी बिरहिन की सेज, मैं शहर में ही रहता हूँ और काव्य-शास्त्र में दीक्षित होने के लिये आपके पास आया हूँ।

गुरुमहाराज ने मुँह बिचका कर कहा—

कवि सब गये बिलाय भई बानी जिमि वन्ध्या।
कविता भई अनाथ बिसूरै प्रातः सन्ध्या॥

कवि 'चच्चा' ने कहा हाँ, यह ठीक है, पर मैं कविता का उद्धार करूँगा, इसीलिये आपका चेला बनना चाहता हूँ: आशा है आप मेरी विनती स्वीकार करेंगे।

गुरुदेव ने सर हिला कर नहीं किया और कहा—

मन मिले का मेला।
चित्त मिले का चेला॥
वृथा नरकौ में ठेलमठेला
बाबा, सबसे भला अकेला॥

सारांश यह कि कवि 'चच्चा' ने बड़ी प्रार्थना की पर गुरुदेव न पसीजे। उन्होंने नहीं छोड़कर हाँ न किया। उनका कहना था कि उन्होंने नये चेलों की भरती बंद कर दी है। उनके पुराने चेले ही उनका नाम बदनाम करने के लिये काफी हैं। अपने चेलों की करनी सोच कर वे लज्जा से गड़ जाते हैं। उनके एक शिष्य ने इतनी उच्छृङ्खलता दिखायी कि सारी कवि परम्पराओं को ठुकरा कर किसी कामिनी के नेत्रों की उपमा कटहल के कोए से दे डाली। जब पुराना शिष्य नेत्रों की उपमा कटहल के कोए से देता है तो नया शिष्य किसी सुन्दरी के कपोल की उपमा पावरोटी से दे तो क्या आश्चर्य्य है। यही सब सोचकर गुरुदेव ने चेला बनाना ही बंद कर दिया था।

कवि 'चच्चा' अनुनय-विनय करके हार गये। वे हताश हो कर घर लौटने की सोचने लगे। भावों की प्रतिक्रिया कुछ ऐसी हुई कि हृदय में कविता के प्रति उच्चाटन-सा हो चला। पर पर-

मात्मा को हिन्दी की भलाई मंजूर थी। उससे देखा नहीं गया कि महाकवि होने की शक्ति रखने वाला एक व्यक्ति कविता से यों मन मोटा करके चला जाय। एक साधारण घटना द्वारा उसने तुरत सारी स्थिति बदल दी।

मैं पहले कह चुका हूँ कि गुरु महाराज के आगे तोते का पिंजड़ा रक्खा था। पिंजड़े का पल्ला शायद ढीला था। तोते ने पल्ला खोल लिया और सर निकाल कर बाहर झाँकने लगा। संयोग से कोने में एक बिल्ली दुबकी हुई थी। उसने झपट कर तोते को पकड़ लिया और सबकी आँखों के सामने से उसे ले भागी।

पर वाह रे गुरु महाराज! आदमी हो तो ऐसा हो! टेक इसका नाम है! उन्होंने इस अवसर पर भी गद्य की भाषा का प्रयोग नहीं किया। दूसरा होता तो गँवारों की तरह दौड़ो-दौड़ो पकड़ो-मारो चिल्लाने लगता, पर गुरुमहाराज ने अपने पनरुआ नामक नौकर को पुकार कर कहा—

अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया लै गयी सुग्गा।
तू मन मारे खड़ा निहारै जैसे भुग्गा ॥
अरे पनरुआ देख पड़ा है खाली पिंजड़ा।
तू मन मारे खड़ा निहारै जैसे हिजड़ा ॥

खेद के साथ कहना पड़ता है इन सुन्दर पंक्तियों का पनरुआ पर कोई प्रभाव न पड़ा। वह अपनी जगह से हिला भी नहीं। उन्होंने फिर कहा—

अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया बैठी छप्पर।
तू मन मारे खड़ा बना है जैसे पत्थर ॥
अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया नीचे उतरी।
तू मन मारे खड़ा बना है ज्यों कठपुतरी ॥

पनरुआ अब भी भौचक्का-सा खड़ा रहा उसके दिल और दिमाग़ में से एक, अवश्य किसी पथरीले पदार्थ का बना था।

कवि 'चच्चा' से न देखा गया। वे बिल्ली के पीछे दौड़ पड़े। बिल्ली तोते को चट करने के लिए किसी एकान्त और निरापद स्थान की खोज में थी। हमारे कवि ने पहुँच कर उसका खेल बिगाड़ दिया। उस रेतीले सपाट पर वह कवि 'चच्चा' से तेज़ न दौड़ सकी और तोते को छोड़ कर भाग गयी।

तोते को एक जगह दाँत धँसे थे पर विशेष चोट न आयी थी। कवि 'चच्चा' ने उसे लाकर पिंजड़े में रख दिया। गुरु महाराज पिंजड़ा पुनः आबाद देखकर प्रफुल्लित हुए। उन्होंने अपना निश्चय बदल दिया और 'चच्चा' को अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया। कवि 'चच्चा' के हर्ष का कुछ ठिकाना न रहा। उसी दिन गुरु महाराज ने उन्हें पहला पाठ पढ़ाया और कहा कि रास्ते में याद करते जाना। पहला पाठ था—

विनय सील उर धारि छाँड़ि विद्या को गर्रा।
गुरु चरनन में बैठि पिए पिंगल को ठर्रा ॥
लिखि फारै फिर लिखै लाख खर्रे पै खर्रा।
तब कविता को रामकृपा कछु पावै ढर्रा ॥

कलाकार

कलाकार भूतकाल को, सुनहले भूतकाल को भी, अपनी अंतर की आँखों की छोरों से इसलिये छूता है, कि वह अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब वह भविष्य की ओर रखदे और उससे कुछ आगे अपनी कला-विन्दुओं की सीमा खींच दे, तो विश्व में युग से होड़ लेती हुई अपनी एक अमर पीढ़ी दिखाई दे। यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते, तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और काग़ज़ों से छू सकते थे। स्वप्नों को पकड़ने का पथ तो अन्तरतर के स्वप्न देश ही में से है। हवाई जहाज़ पर चढ़कर, जिस तरह हम हिमालय विन्ध्य और सतपुड़ा की ऊँचाई-निचाई से परे हो जाते हैं, और उच्चता की एकरसता में, एकरसता की उच्चता की दुनियाँ में पहुँच कर उसे पार करते होते हैं, उसी तरह जब हम अपने स्वप्नों के जागरण में होते हैं, तब हम अपनी पीढ़ियों के ऐसे वायुयान बन जाया करते हैं।

कला की पीढ़ी 'अँगुलियों की गिनती' पर होती है। गंगा से कृष्णा की दूरी ही की तरह, एक क्षुद्र की, दूसरे क्षुद्र से दूरी होती है; किंतु उनके इरादों के 'अपनी पर आने' का सेतु बँध जाने पर, ज़माना का ज़माना, इस पार से उस पार, और उस पार से इस पार होता रहता है। उस कला का वाहन, कलाकार

का विज्ञापन चिपकाये रहनेवाला शरीर नहीं है, न उसका वाहन विलास है, न उसका उल्लास, न सिसक है, न मुसुक है। उसका वाहन तो वह प्रेरणा है, जिसपर वह अपने सम्पूर्ण इरादों और स्वप्नों को लेकर बैठ जाती, और तिसपर भी वह समय की दौड़ से आगे बढ़ जाया करती है। समय के साथ रहने पर तो सूरज और चाँद, अपने प्रकाश से उसे हरा कर बड़े बन जाने के अधिकारी हो जाते हैं। इसलिये कलाकार, राहगीर का समय काटने की वस्तुमात्र नहीं होता, वह समय का पथ-प्रदर्शक, राहगीर होता है !

कलाकार कैसे जाने कि उसका दिलवर उसका अपना है ? विश्व-निर्माता ने उसे अपनाया है। निर्माता की तान में, अपनी तान मिल जाने की पहिचान तो यही है न, कि भक्त-भावन की तरह भक्त भी निर्माता हो। तभी तो मानव-दम्भ की कुटिलता और ग्रन्थों की जटिलता के परे, 'सोहऽमस्मि' के कुछ मानी रह जावेंगे। निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका अध्ययन हो, निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसकी कमाई, और निर्माण ही जिसका दर्द और आनन्द हो, विषाद और विनोद हो, तब उसका निर्माण ही उसकी चिरसमाधि क्यों न हो ? उसे निर्माण की समाधि न कहेंगे, वह तो पंचत्व को प्राप्त होकर भी समाधि के द्वारा, पीढ़ियों में प्रेरणा के रूप में जीवित रहने वाला, निर्माण ही कहा जावेगा। उस दिन भी निर्माता की जिम्मेवारी पूरी करने वाला, निर्माता की वह अपनी चीज होगा।

रोज़ उत्थान के अभाव और पतन की पराकाष्ठा से भरा जाने वाला हमारा पेट जीवन के प्रकटीकरण की भूख अनुभव ही नहीं करता, किन्तु जो इस भूख को अनुभव करते हैं, उनका एकान्त, अस्तित्व की बस्ती है; और उसकी निकम्मी घड़ियाँ, कला के अस्तित्व का श्वासोच्छ्वास हैं। फ़ुरसत की घड़ियाँ कुछ लोगों की सनक की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की लाचारी की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की काहिली की घड़ियाँ है; वे कुछ लोगों की नाश की भी घड़ियाँ हैं। फ़ुरसत की घड़ियाँ, और वैसी ही फ़ुरसत की घड़ियाँ, कला के अस्तित्व की घड़ियाँ हैं, कला के विकास की घड़ियाँ हैं, कला के खिलवाड़ की घड़ियाँ हैं। वहाँ कला पुरुषार्थ-वान् होती है, और पुरषार्थ, कला के चित्रों का रंग बन जाता है।

उद्योगी विश्व, कहीं इन निकम्मों को भी जीने दो। रेलगाड़ी के पथिको, संकल्पों के आने-जाने के लिये भी ज़मीन चाहिये। बे-फ़ुरसत की ज़िन्दगी में कलाकार, विश्व को देखने, देखते रहने और देखते-देखते पुनः देखते रहने के लिये, आँखों और आडम्बरों से बाँधकर रक्खा जाता है। उस समय अपने को और अपनेपन को देखने का, उसे अपने को नहलाने और सुहलाने का, वह अवसर ही नहीं पाता। फ़ुरसत की घड़ियाँ, कलाकार की अस्तित्व की आराधना है, आराध्य की पूजा है, आत्म-देव की अभ्यर्थना है। वे उसके आत्म-संकीर्तन की नहीं, विश्व-संकीर्तन के लिये आत्म-दर्शन की घड़ियाँ हैं। उस समय उसकी खुली आँखें, मुँदे जगत की गुत्थियाँ सुलझाया करती हैं और मुंदी आँखें, खुले

जगत में विश्व के परम सत्य का रंग भरती रहती हैं। उस समय वे आँखें जिस लोक को देखती हैं उस लोक में उस कलाकार और उसकी कला को भी देखती हैं। उसकी सेवा और उसकी तैयारी को भी देखती हैं। उसकी कमज़ोरियों और उसके पतन को भी देखती हैं। वह अपने उत्थान से, उत्थान के शेष रहे हुए पथ की दूरी देखकर, अपनी नम्रता और धीरज को समेटता रहता है; और अपने पतन को देखकर उत्थान की करारी छलाँग मारने के लिए, बलों की आत्मा से, बल की प्रार्थना किया करता है।

एकान्त जीवन का अवकाश, कलाकार का वह मन्दिर है, जहाँ वह अपने को अकर्मण्य-कर्मण्यता के नास्तिक बन्दी-गृह से बाहर निकालता है; आकाँक्षाओं की मूरत बनाता है, चिन्तन पर रंग चढ़ाता है, और इस तरह अपने मूक वैभव को कलम पर उतार कर विश्व में भेजता है; जिसे देखकर, दुनियाँ की शत-शत वाणियाँ वाचाल हो उठती हैं। भला, ऐसे समय यह कैसे माना जावे, कि कला का अनुवाद भी होता है, उसकी नक़ल भी उतारी जा सकती है। इच्छाओं के आदर्श का अनुवाद? आदर्श की इच्छाओं की नक़ल?

कलाकार का जीवन द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुभूति होता है। जब वह अपने अनन्त-चिन्तन में उतरा होता है तब वह कला-पिता के जोखिम भरे उल्लास से, आभूषित और कला-माता के प्राण-मय बोझ से बोझीला होता है। किन्तु जब उसका

चिन्तन उसकी क़लम पर उतर आता है, तब वह, अपना ही कला-पुत्र होकर विश्व के अन्तरतर की सुकोमल गोदों में खेलता रहता है। चाह की तीव्रता और चिन्तन का माधुर्य ये दोनों ही तो वैज्ञानिक संघर्षण की वस्तुएँ हैं, जिनसे चटख पड़ने वाले प्रकाश को, अपने भिन्न-भिन्न रंगों के रक्त से गीला कर, अस्तित्व की अँगुलियों के द्वारा, विविधता के पत्रक पर, कलाकार विश्वनिर्माता की, अपने मनमोहन की, कोई तसवीर खींचा करता है। जिसका आराध्य हर चीज़ में हो, और पहुँच की तीव्रता के माप से वह 'अपना' हो, तो कलाकार की आँखों और अन्तर के प्रवेश के लिए, प्रकृति का सारा वैभव, और ख़तरों का समस्त भण्डार, अपने अन्तर का द्वार क्यों न खोल देंगे? कलाकार की अँगुलियों की असफल खिलवाड़ों तक में, एक मनुहार, एक अपील, एक वेदना, एक झाँकी और एक बेबसी होती है। वहाँ, उस प्रकटीकरण के समय, उसकी अँगुलियाँ, उसे अपने आराध्य से कहीं अधिक मीठी मालूम होने लगती हैं। किस गोद के लिए कला दौड़ आती है? उन आँखों के लिए जो कल्पकता की ममता और ममता की कल्पकता का अनुभूति के माप से अन्दाज़ा लगा सकें। उस जानकारी की गोद पर, जो कला की आकृति और प्रेरणा को मूँदी आँखों से देखकर शिल्पी के खुले हृदय का आकलन कर सके, और खुली आँखों से देखकर, स्मृति को विस्मृति के हवाले कर, कलाकार की वस्तु में समा सके।

कलाकार क्या है? वह अपने युग की, स्फूर्ति के प्रकाश के रंग

में डूबी भगवान् की प्रेरक और कल्पक कूँची है। उसके स्वरों में रंग होते हैं: रंगों में स्वर होते हैं। उसके चित्रण की आत्मा सजीव होती है, मंचों पर दिखाये जाने वाले नाटकों की तरह उसे समझने के लिए, खास पढ़े-लिखों की पल्टन ही की जरूरत नहीं होती। जिन्हें स्वप्न समझने की बुद्धि है, उनके पास कला का मूल्य है, जो मुसकराहट और बेचैनी को समझ सकते हैं, वे कलाकार को समझ सकते हैं। जो जीवन और मृत्यु को समझा करते हैं, वे उस समय कलाकार की भाषा को पढ़ा करते हैं। जिन्हें देखकर, कलाकार अपने आँसुओं और उल्लासों को चित्रित किया करता है, वे चाहे कल्पकता के सत्य हों, पर कलाकार के लिये तो वे सत्य की कल्पकता है। उन घड़ियों का संचय ही, कलाकार का सम्पूर्ण जीवन है।

अध्ययन

अध्ययन जन्म से प्रारंभ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ का वह कुछ भी नहीं जानता। उस को इतना बोध भी नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे-धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर बिना एक अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता है। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही है। अध्ययन शब्द "ध्यै" धातु से निकला है, जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किंतु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है, किंतु यदि मनुष्य सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित रहेगी। संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्रायः अनंत हैं, और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार में ज्ञान-वृद्धि बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है; वहीं से प्रारम्भ करके दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है और इसी प्रकार सहस्रों मनुष्यों द्वारा प्रत्येक विभाग में अनंत ज्ञानवृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों

का अनुगामी पूरा पंडित नहीं हो सकता। पांडित्य के लिए आत्मानुभव, आत्म-निर्भरता और स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य के वश में राज्य, प्रचुर धन, महा बल आदि प्राप्त करना सदैव नहीं है। इनके लिए भाग्य एवं आकस्मिक घटनाओं की भी आवश्यकता है। इधर पांडित्य का प्राप्त करना बहुत करके प्रत्येक मनुष्य ही पर निर्भर है। कहते ही हैं कि इसके लिये राजाओं के वास्ते भी कोई पृथक् मार्ग नहीं है। निरंतर कठिन परिश्रम एवं साधना ही इसका मूल कारण है। परिश्रम मनुष्य के लिए सदैव लाभकारी है। बिना इसके किसी प्रकार का वास्तविक महत्त्व प्राप्त नहीं होता। परिश्रम से भागना अपने महत्त्व को लात मारना है। उचित परिश्रम से किसी प्रकार का दैहिक अथवा मानसिक कष्ट नहीं हो सकता। कहते ही हैं कि मनुष्य-बल का सड़ जाना सहल है किन्तु घिस जाना कठिन। शक्ति का उचित प्रयोग करने से उसकी दिनों-दिन वृद्धि होती है, न कि क्षीणता। हमारे जाने हुए दो विद्यार्थी एक ही कक्षा में पढ़ते और प्रायः साथ ही साथ बैठते थे। उनके निवास-स्थान भी एक ही मुहल्ले में थे किंतु पढ़ने में एक महाशय अधिक मन लगाते थे और दूसरे कम। जब अध्यापक ने कक्षा की परीक्षा ली तब उनमें से परिश्रमी ने पचास में पैंतीस नम्बर पाए और दूसरे ने सात। इस पर अध्यापक महाशय ने उन्हें साथ ही साथ बैठा देखकर सात नंबर वाले से कहा कि "क्या इसमें तुमसे पँचगुनी बुद्धि है?" फिर

उन्होंने आप ही इस प्रश्न का उत्तर देकर कहा कि—"तुम दोनों में अंतर बुद्धि का नहीं वरन् परिश्रम का है।"

बहुत लोग जब चित्त न लगाने के कारण अथवा शिक्षण-प्रणाली में कुछ दोष होने के कारण विद्याध्ययन में समुचित उन्नति नहीं कर पाते, तब समझते हैं कि हमारे पास बुद्धि की मात्रा कम है। यह विचार बहुत दशाओं में भ्रममूलक होता है। भाग्यदत्त बुद्धि की मात्रा विविध मनुष्यों में एक नहीं हो सकती। यही दशा स्वास्थ्य आदि की है। फिर भी जैसे आयुर्वेद के नियमों पर ध्यान-पूर्वक एवं दृढ़ भाव से चलकर एक साधारण स्वास्थ्य वाला मनुष्य भी परम संतोषदायक उन्नति कर सकता है और अपने से बहुत श्रेष्ठतर ऐसे भाग्यदत्त शरीरवाले से जो कुपथ्य सेवी है बहुत बढ़कर हो सकता है, वैसे ही उद्यमी पुरुष भाग्यदत्त साधारण बुद्धि को क्रमशः बहुत बढ़ा सकता है। वही लोहे का टुकड़ा तलवार बनने से और भली-भाँति रक्खे जाने से शीशे की भाँति चमकने लगता है और वही लापरवाही से रक्खा जाकर मुर्चा खा जाने से कोयले के समान काला और तिनके के समान टूटने वाला हो जाता है। परिश्रम अध्ययन का जीव है। बिना विद्या-प्राप्ति के मनुष्य और पशु में बहुत कम अंतर रह जाता है। भारी धनाढ्यता मनुष्य को प्रायः आलसी बना देती है। इसी लिए पंडित लोग इसे अध्ययन का सहज शत्रु समझ कर इसका निरादर करते हैं!

प्रत्येक मनुष्य में कुछ पशुता भी होती है। अन्य गुणावगुणों

के समान इसकी वृद्धि अथवा ह्रास भी मनुष्य की इच्छा ही पर निर्भर है। जो मनुष्य समुचित अध्ययन द्वारा गुणों की उन्नति तथा अवगुणों की अवनति करता है, उसमें इसका ह्रास होता जाता है, अन्यथा नहीं। संभावित पुरुष को उचित है कि यदि वह कोई व्यसन ग्रहण करे, तब भी वह विद्या ही का होना चाहिये। विद्या से यहाँ केवल पुस्तकमय ज्ञान का तात्पर्य्य नहीं है, वरन् सभी प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति इसी के अंतर्गत आ जाती है। समय का मूल्य बहुत बातों से अधिक समझना चाहिये। बिना समय का उचित प्रयोग किए अध्ययन आदि किसी सद्गुण का साधन नहीं हो सकता। फिर भी शक्ति के बाहर पढ़ना रोगोत्पादक होगा। सभी बातों के लिये समभाव उचित है। वैषम्य सदैव हानिकारक है। पढ़ना लिखना, खेलना कूदना, सब कुछ यथा समय करना चाहिये। औचित्य का सीमोल्लंघन किसी दशा में न होना चाहिये। जैसे अन्य बातों में हम वैविध्य की प्रशंसा तथा आनिर्वृत्य की निन्दा करते आए हैं, वही दशा अध्ययन की भी है। मनुष्य को विविध विषयों में ज्ञान प्राप्त करना उचित है। एक ही बात में उतारू हो जाना मानसिक उन्नति को रोक कर मनुष्य को गूलर के फल वाले भुनगे के समान बना देता है। यथासमय पढ़ना लिखना और खेलना कूदना मनुष्य को पूरा मनुष्य बनाता है, किन्तु स्मरण रहे कि जो बात जिस समय की जाय वह पूर्ण तल्लीनता के साथ हो। पढ़ने के समय खेलना और खेलने के समय पढ़ना बिलकुल ही भुला देना चाहिये। जब जो

कुछ करो तब उसमें पूर्णतया मन लगाओ। एक कार्य करने के समय दूसरे का विचार भी चित्त में न आना चाहिये। एकाग्र भाव एक बहुत बड़ा मानसिक बल है। यही प्राणायाम का मूल और योग का बंधु है। गीता में भगवान् ने आज्ञा दी है कि:—

"योग: कर्म्मसु कौशलम्।"

अत: कर्मों में कुशलता ही योग है, जो काम करे उसी को पूर्ण उत्साह के साथ करे। जब तक उसे करता जाय तब तक उससे अप्रसंगी कोई भाव तक चित्त में न उठने पावे। जो इस प्रकार का काम कर सके वही योगी है। इसी से कहा गया है कि संसार में सच्चे योगी के लिए कोई भी वस्तु असंभव नहीं है।

संसार में ज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य्य से है। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु, विचार आदि को देखता-सुनता है और उसे नहीं जान पाता तब उसके चित्त में या तो आश्चर्य्य का भाव उदित होगा अथवा उदासीनता का। उदासीनता के बराबर हानिकारक भाव संसार में नहीं है। यह विद्या, उन्नति आदि सभी गुणों की बाधक है। अज्ञानी के लिए उदासीनता से इतर दूसरा भाव आश्चर्य्य का है। किसी अज्ञात पदार्थ को देखकर मनुष्य को बहुत कुछ सोचना चाहिये। इसके क्या गुण दोष हैं, यह क्योंकर बना, क्यों बना, इसके अस्तित्व का क्या कारण है, इसके अनस्तित्व से क्या हानि अथवा लाभ है, इत्यादि अनेकानेक प्रश्न प्रत्येक अज्ञात वस्तु के विषय में उत्पन्न होते

हैं। मूर्ख लोग बहुत से पदार्थों को उपहासास्पद समझते हैं। संसार में कुछ पदार्थ उपहासास्पद भी होते हैं किंतु बहुतायत से नहीं। बहुत वस्तुओं का बाहरी भाव सहसा हँसने योग्य समझ पड़ता है, किंतु भीतर घुस कर ध्यान-पूर्वक देखने से उसी में कर्ता का भारी चातुर्य्य दिखाई देने लगता है। इस लिए जो लोग अनेकानेक वस्तुओं को भोंड़ी, बेडौल और निंद्य समझते हैं, वे बहुधा ऐसे विचारों से अपनी ही मूर्खता प्रकट करते हैं। ईर्ष्या, मोह अहंकारादि के कारण बहुत से लोग पर-गुण-निरीक्षण में अंध होते हैं। जिस किसी को संसार में अधिकांश लोग एवं पदार्थ असाध्य समझ पड़े, उसे जानना चाहिये कि स्वयं उसी में कोई दोष है न कि सब पदार्थों में।

अध्ययन कैसे किया जाय यह एक चिंतनीय विषय है। अध्ययन एक प्रकार से भोजन के समान है। जैसे बहुत कुछ खा लेने से अपच हो जाता है और कुछ भी न खाने से थोड़े ही दिनों में मरणावस्था उपस्थित होती है वैसा ही अध्ययन का हाल है। कुछ भी न पढ़ने से मनुष्य पूरा मूर्ख रहता है, और उचित से अधिक ग्रंथावलोकन से वह ग्रंथों के भावों का आत्मीकरण नहीं कर सकता। ऐसे ही लोगों के विचार तथा सम्मतियाँ स्वयं उनकी नहीं वरन् औरों की होती हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी सम्मति प्रकट कर रहे हैं, किंतु वास्तव में वे जानते हुए अथवा न जानते हुए दूसरों की चोरी किया करते हैं। उन्होंने इतने पराए विचार अपने मन में भर लिए

हैं कि वे उन पर पूर्णतया मनन करके उन्हें अपना नहीं बना सकते। फिर भी जब ऐसे विचार-बहुभक्षी लोग पराए सिद्धान्तों का अपने कथनों में दूसरे प्रसंग में प्रयोग करते हैं, तब आत्मी-करण के अभाव से उनका बहुधा दुरुपयोग हो जाता है। ऐसे ही कथनों पर जब अटल तार्किक सिद्धांतों के अनुसार सूक्ष्म-दर्शिता से विचार किया जाता है तब उनका एक एक अक्षर भूसी के समान उड़ जाता है और मन भर के गट्ठर में एक भी अनाज का दाना नहीं निकलता। ऐसे ही विचारों में प्रतिकूलता-पोषण बहुतायत से होता है। जब मनुष्य कोई सारगर्भित नवीन भाव पावे, तब उसे उचित है कि अपने प्राचीन विचार-समु-समुदाय में उस भाव को स्थान देने के पूर्व सोच ले कि वह कितनों के प्रतिकूल और कितनों के अनुकूल पड़ता है। प्रति-कूलता की दशा में दोनों का यह ध्यान देकर निर्णय कर लेना चाहिये कि उसमें से कौन ग्राह्य है और कहाँ तक। नवीन और प्राचीन विचारों में थोड़ा सा भी विरोध होने से ध्यान-पूर्वक निर्णय करके उनका संशोधन कर लेना चाहिये। जब किसी नए विचार का प्राचीन भाव से मिलान करके पूरा निर्णय होकर एक बात निश्चित रह जाती है, तभी कहा जा सकता है कि नवागत विचार हजम हुआ, अर्थात् अपना हो गया। जो लोग ऐसे आत्मी-करण के नए विचार ग्रहण करते जाते हैं उनका मानस-शरीर बहु-भक्षी लोगों की देहों के समान कभी स्वास्थ्य-युक्त नहीं रह सकता। जो लोग अपने प्राचीन विचारों

को नवीन भावों की वृद्धि द्वारा दृढ़तर बनाते हुए दिनों दिन उन्नतिशील नहीं रखते, उनका मानस-शरीर दुबला और बलहीन होजाता है। बहुत से लोग साधारण बातों, व्याख्यानों, एवं ग्रंथ-निर्माण द्वारा अपने विचार औरों पर बहुतायत से प्रकट किया करते हैं। ऐसी प्रगल्भता से प्रायः प्रतिकूल विचारों का पुष्टीकरण हो जाता है और कथनों में सारगर्भिता की मात्रा बहुत कम होती है। उपदेशकों को संक्षिप्त गुण का अवश्य ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो उनके कथनों में केवल मूर्ख-मोहनी विद्या रह जाती है।

अध्ययन दो प्रकार का होता है, अर्थात् साधारण और दैनिक व्यापार-संबंधी। यह प्रकट ही है कि मानसिक उन्नति के लिए व्यापारिक शिक्षा से साधारण शिक्षा बहुत श्रेष्ठतर है। फिर भी बिना व्यापारिक शिक्षा के काम नहीं चल सकता। मानसिक उन्नति के प्रतिकूल प्रायः व्यापार में ख़ास-ख़ास बुराइयाँ होती हैं। संभावित को इन पर सदैव ध्यान रखना चाहिए, जिससे कि वह मानसिक उन्नति का अवरोध न कर सके। प्रायः देखा गया है कि जो लोग जिस व्यापार में पड़ते हैं, वे अपने आह्निक अवकाश में भी सभा-सोसाइटियों में बैठ कर उसी की बातें किया करते हैं। चतुर मनुष्य को अवकाश के समय में मेड़ुवा गोजई का भाव न सोचकर, ऐसे विषयों की ओर चित्त लगाना चाहिए, जिनको उसके व्यापार-संबंधी आह्निक कर्त्तव्यों में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यों को अंधवत् एक ही लीक पर अनुगमन करने से बचना चाहिए।

अध्ययन का मूल दो प्रकार का होता है, अर्थात् स्वावलंबी और परावलंबी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। स्वावलंबी अध्ययन अपने ही अनुभवों एवं विचारों से प्राप्त होता है और परावलंबी अध्ययन पुस्तकों, गुरुओं और मित्रों आदि पर आश्रित है। स्वावलंबी अध्ययन में ज्ञान-वृद्धि के लिए बहुत कुछ अधिक समय दरकार है, किंतु वह बहुत पक्का होता है। संसारीपन की कार्य्य-कारिणी बुद्धि स्वानुभव से ही विशेषतया प्राप्त होती है और बिना स्वावलंबी ज्ञान के केवल परावलंबी अध्ययन से पूर्ण मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। दोनों प्रकार के अध्ययनों में विद्यार्थी को कक्षा-विभाग पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर और वस्तुओं से उसकी समता और असमता पर पूर्ण विचार करो। जो वस्तुएँ जहाँ तक समान हों उनको जानो, और फिर समान वस्तुओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंतर को बुद्धि-बल से खोज निकालो। प्रकृति ने समानता और अंतर का ऐसा विचित्र बनाव रक्खा है, कि इसपर जहाँ तक मनन करो वहाँ तक ज्ञान विस्तीर्ण होता जाता है। संसार में अरबों मनुष्य प्रस्तुत हैं, और उनका शरीर सांगोपांग समान है, किंतु फिर भी कोई दो मनुष्य ऐसे न मिलेंगे जिनकी बनावट एक दूसरे से बिलकुल मिलती हो। तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञानपूर्वक निरीक्षण द्वारा जाना है कि संसार में प्रकृति जीवधारी की रचना-शक्ति के प्रदर्शन में पुनरुक्ति कभी नहीं करती,

यहाँ तक कि कोई दो पत्ती अथवा दूब के पौंड़े तक एक दूसरे से बिलकुल समान कभी नहीं होते। ऐसी समता एवं भिन्नता का ज्ञान भारी सूक्ष्मदर्शिता से ही प्राप्त होता है। इस शक्ति को बढ़ाने के लिए सभी ठौर समता और भिन्नता पर ध्यान देना चाहिये। अधिक से अधिक पदार्थों को ध्यानपूर्वक देखते जाइए और तब आपकी अधिकाधिक ज्ञान-वृद्धि होगी। अजायबघर, जंगल, बाग़, मैदान, ग्राम, नगर, पत्तन, झील, समुद्र, नदी, नाले, पहाड़ आदि सभी कुछ ध्यानपूर्वक देखो, और विचारो कि किस-किस पदार्थ से क्या क्या शिक्षा मिल सकती है। आँख वाले अंधों के समान कभी काम न करो। जहाँ जाओ दोनों आँखें खोले रहो। किसी वस्तु को देखकर यह सदैव सोचो कि यह ऐसी क्यों है, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं? इसके रचयिता ने इसे यहाँ किस विचार से रक्खा। रास्ता चलने में भी विचारते रहो कि अमुक पगडंडी की वर्तमान स्थिति उसी प्रकार से उसी स्थान में क्यों हुई। एक छोटा सा कंटकित पौधा भी यदि मार्ग में पड़ जाता है तो पगडंडी उसके कारण हाथ भर मुड़ जाती है। कोई पथिक साधारणतया उसे उखाड़कर फेंक सकता है अथवा जूते की ठोकर से कुचल सकता है, किंतु पथिक लोग प्रायः इतना कष्ट उठाते देखे नहीं गए हैं। विदेशों में रेल पर यात्रा करने में अन्य बातों में उतना ध्यान न देकर मनुष्य को देश की बनावट देखनी चाहिये। इससे उस प्रान्त के निवासियों के बहुत से

स्वभाव सहज ही में ज्ञात हो जाते हैं। सारांश यह है कि यथासाध्य सभी नवीन बातों में तार्किक सिद्धांतों का ध्यान कभी न भूलो। तर्क-शास्त्र कोई नवीन बात नहीं बतलाता, किंतु साधारण अनुभवों द्वारा ज्ञानप्राप्ति के उसमें ऐसे सुंदर नियम मिलते हैं जो नेत्रों को नेत्र और कानों को कान बनाते हैं।

परावलंबी ज्ञानप्रणाली में पुस्तकों और गुरुओं की प्रधानता है। यदि कोई बात ज्ञात न हो, तो उसके पूछने में कोई संकोच न करो। भगवान् दत्तात्रेय ने मकड़ी आदि २४ जंतुओं को भी अपना गुरु करके माना था। गुरुओं एवं पुस्तकों के कथनों को भी अंधपरंपरा की रीति से कभी न मानो। कहा भी है कि—

नहिं प्रमाण करि श्रवण अंध सम ताकहँ मानौ।
ताके कारण खोजि बुद्धिबल सों अनुमानौ॥

गुरुओं और पुस्तकों में भी परमोच्च मानसिक उन्नति संयुक्त लोगों एवं उनकी रचनाओं का आश्रय लो। परमोच्च ग्रंथों के भी परमोच्च विचारों पर ध्यान दो। ग्रंथों के पढ़ने में पूर्ण बुद्धि व्यवसाय से काम लेना चाहिये। और एक पेंसिल तथा जेबी कोष-ग्रंथ तो और अखबारों तक के पढ़ने में अपने पास रखना उचित है। कोष के पास होने से छोटे से छोटा संदेह निवृत्त हो जाता है और ज्ञान-वृद्धि में बहुत अच्छी सहायता मिलती है। अंगरेजी शब्दों में बहुधा अक्षरों और उच्चारणों में बड़ा-अंतर होता है। ऐसी दशा में हम विजातीय लोगों को उच्चारण-संबंधी कष्ट से छुटकारा पाने के लिये एक छोटा कोष-

ग्रंथ अवश्य पास लगाए रखना चाहिये। ऐसे ग्रंथ से समय पर बड़ी सहायता मिलती है, पुस्तकाध्ययन में पेंसिल का प्रयोग भी बेधड़क होना चाहिए। कोई नवीन ग्रंथ पढ़ने में जो अपने भाव उठें उन्हें भी यथास्थान अंकित कर दो। कोई ग्रंथ पढ़कर यह अवश्य निश्चय कर लेना चाहिए कि यह दूसरी आवृत्ति के योग्य है या नहीं। अच्छे-अच्छे ग्रंथों की कई आवृत्तियाँ होनी चाहिये।

पढ़ने में अपने प्रिय विषय पर विशेषता अवश्य रक्खे, किंतु अन्य विषयों का तिरस्कार कभी न करे। कहा भी है कि विद्वान् को कुछ का सब कुछ और सब का कुछ कुछ अवश्य जानना चाहिये। बिना इसके वैविध्य लुप्त होकर अनिर्वृत्य आ जाता है। मनुष्य को सभा-चातुर्य्य और ज्ञान-गरिमा वैविध्य से ही प्राप्त होती है। अपने ऊपर उचित से अधिक विश्वास और अविश्वास न करे। ये दोनों विफलता के मूलकारणों में से हैं। अपने साधारण अनुभव से हमें ऐसे महापुरुषों के चरित्र से अच्छे उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही जीवन-चरित्र भी श्रेष्ठ उदाहरण प्रदर्शन द्वारा हम भारी लाभ पहुँचा सकते हैं। रामायण और महाभारत में राम और युधिष्ठिर के अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जीवन-चरित्रों में व्यक्तित्व की मुख्यताओं का होना परमावश्यक है, यहाँ तक कि उसमें दोषों का भी कथन होना चाहिये, नहीं तो उदाहरण बहुत ऊँचा उठ जाता है और साधारण मनुष्यों को समझ पड़ने लगता है कि उसका अनुकरण असंभव है।

मनुष्य को किसी न किसी कला का भी पारगामी होना चाहिये। पियानो, हारमोनियम, अलगोजा, सितार, जलतरंग आदि अनेकानेक वाद्य तथा गाना, नाचना आदि बहुत से सामाजिक मनोरंजन हैं। इनमें से कुछ भी न जानने वाला मनुष्य समाज में आदर नहीं पा सकता। साहित्य का भी जानना बहुत अच्छा होता है। ऋषिवर महात्मा भर्तृहरि ने कहा भी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥"

बहुत से लोग हुनर की उन्नति को जातीय अवनति से मिला कर उसकी निंदा करते हैं। वे लखनऊ और दिल्ली की राजसभाओं को इसका उदाहरण बतलाते हैं। कलाओं से जब इंद्रिय-लोलुपता मिला दी जाती है, तब ऐसे बुरे उदाहरण देख पड़ते हैं। हुनर की वृद्धि अवश्य करनी चाहिये, किंतु इन्द्रिय-संयम पर भी पूर्ण ध्यान रखना प्रत्येक सुधी को उचित है। प्रत्येक मनुष्य के लिये किसी न किसी लक्ष्य का होना आवश्यक है। बिना इसके न तो समुचित उन्नति हो सकती है और न आनंद ही प्राप्त होता है। जो कोई केवल आनंद ढूँढना चाहता है, उसका मनोरथ कभी सफल नहीं होता, क्योंकि मनुष्य के लिये केवल आनंद कुछ है ही नहीं। जिस पदार्थ को पसंद करके मनुष्य उसमें मन लगाता है, उसी की प्राप्ति में आनंद है।

रहस्यवाद

हिंदी-संसार में रहस्यवाद के संबंध में विचित्र विचित्र धारणाएँ व्यक्त की जा रही हैं। ऐसे ऐसे कवियों को भी रहस्यवादी कवियों की कोटि में ढकेला जा रहा है, जो रहस्यवाद से कोसों दूर हैं। वास्तव में भाव-गंभीरता, भाषा-क्लिष्टत्व तथा विचार-जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में जो दुरूहता आ जाती है, वह रहस्यवाद नहीं है। हिंदी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी कभी अध्यात्म-संबंधी विचित्र धारणा के उपहास के लिये और कभी कभी ईश्वर और संसार-संबंधी असाधारण विवेचना की मखौल उड़ाने के लिये भी रहस्यवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ईश्वर और संसार का संबंध, संसार की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदिकाल से मुग्ध किये है। इस मुग्धता में विस्मय है, विस्मय में उद्वेगाग्नि है। इसीलिये चित्त क्षुब्ध और अशान्त रहता है। क्षोभ और अशांति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी सारी शक्ति अनन्तकाल से व्यय कर रहा है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनंतकाल से कर रहा है,

परंतु उसमें शान्ति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिए ससीम हृदय उत्कंठा से निकला। यही रहस्यवाद का मूल उद्‌गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है।

भारतीय ग्रंथों में रहस्यवाद की सुन्दर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती है,

सर्वभूतेषु येनैकं भावगम्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्॥

परंतु काव्यगत रहस्यवाद का ज्ञान से संबंध न होकर हृदय से है, मानसिक विकास-द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है, और भावातिरेक-द्वारा हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात। काव्य-स्वीकृत रहस्यवाद का संबंध दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है, परन्तु साहित्य में दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अन्तर्गत रक्खा गया है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य का कोई न कोई अंग-निरूपण करके सत्य की अभिव्यक्ति में कुछ-न कुछ नई बात कही है। उस महान् अखंड शक्ति के आलोक का आभास भक्तजनों को पृथक्-पृथक् कोण से मिला है।

सुनि हस्ती कर नाँव, अधरन टोवा धाय कै।
जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

रहस्यवादियों की अपनी मनोवृत्तियों ने उसका रूप सँवारा है। यही कारण है कि पहुँचे हुए संतों के अनुभव एक दूसरे से भिन्न और कहीं-कहीं पर परस्पर-विरोधी दिखाई देते हैं। अँगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ को दैवी अभिव्यक्ति का साक्षात्कार प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त हुआ था, और इसीलिए वह प्रकृति का उपासक था, परंतु वही प्रकृति का स्थूल स्वरूप दूसरे रहस्यवादी कवि ब्लेक के लिये अखंड सत्ता के अवगत करने में विरोध उपस्थित करता था।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई न कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहत है। उसी स्फुलिंग-द्वारा—उसी दैवांश द्वारा—वह उस अखंड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है, उसी प्रकार अध्यात्म भावना-द्वारा मनुष्य रहस्यमय अखंड सत्ता का अनुभव कर सकता है। परंतु बुद्धि और भावना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है, जो अध्यात्म निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि-विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पाओ कछु सार॥

'कबीर'

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है।

इसीलिए उसे जन्मांतर में विश्वास करना पड़ता है। आत्मा की नित्यता उसके रहस्यमय भाव-प्रसाद की नींव है। "न जायते म्रियते वा कदाचन" अथवा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" रहस्यवादी के अद्वैतवाद की पुष्टि ही करते हैं। इस प्रकार के जन्मांतर में विश्वास किसी जाति विशेष के रहस्यवादियों तक ही सीमित नहीं है। जन्मांतर-सिद्धान्त के घोर विरोधी ईसाइयों में भी रहस्यवादी कवि रहते हैं। जन्मजन्मांतरवाद के कट्टर विरोधी मुसलमान धर्म के पोषक कविवर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी सूफ़ी रहस्यवादी होने के कारण जन्मांतरवाद के चित्र खींचे हैं। 'पद्मावत' का 'सुआ' पूर्व जन्म का ब्राह्मण था। कबीर ने तो खुल्लमखुल्ला जन्मांतर माना है। इसी प्रकार सूफ़ी कवि जमालुद्दीन रूमी, हाफ़िज़, जामी हज्जाज इत्यादि मुसलमानों में भी आत्मा की पुनर्भावना के चित्र मिलेंगे। भारतवर्ष के संतकवि तो जन्मांतर के विश्वास के साथ-साथ विकासवाद को भी कहीं-कहीं स्वीकार करते दिखाई देते हैं।

जन्म एक गुि -भक्त कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति-पद, चौथे में निर्वान ॥

परन्तु यह सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक रहस्यवादी जन्मांतर को माने ही। अँगरेज़ी साहित्य में इसके अपवाद उपस्थित हैं।

धर्म-प्रचारक,विज्ञान-वेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञान-वेत्ता की भाँति रहस्यवादी

रहस्योद्‌घाटन के लिये बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार नवीन शोध को सीधे सामने लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्यवादी उसका परोक्ष निदर्शन करता है। वह अनुभव करता है कि उसने अखंड ज्योति की लपक देखी। उसने अनहद शब्द सुना है। उसने अमृत कुंड के छींटों से स्नान किया है।

भरत अमिय-रस झरत ताल जहँ, शब्द उठे असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिंधु कहँ सोषै, नहिं कछु जात बखानी हो॥

भाषा भावों के विकास से हमेशा पीछे रहती है। भाव की उत्पत्ति के बाद तद्रूप भाषा गढ़ी जाती है। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यंजना संभव नहीं, इसी लिए रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता है। रहस्योद्‌घाटन की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इसका अनुमान केवल एक ही बात से हो सकता है, लगभग सभी सन्त कवियों ने उस अखंड ज्योति के साक्षात्कार के प्राप्त सुख की अभिव्यक्ति में गूँगे के खाए हुए गुड़ की उपमा दी है। कारण यह कि सभी कवियों की व्यंजना की कठिनता एक सी है। प्रतीक-प्रयोग की भावना के अंतर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है। इसी लिए रहस्यवादी उसे अपनाता है। वह भी विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवी प्रेम में दैवी प्रेम का आध्याधार देखता है, इसी लिए

संकेत-द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पंक्तियों को देखकर मानव-समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है।

बाढ़ी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग।
हमें कटे की कछु नहीं पंखेरू घर भाग॥

'कबीर'

प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति में शक्ति आ जाती है। दैनिक जीवन में दांपत्य-प्रेम अत्यन्त तीव्र और व्यापक है। समूचे जीवन-क्षेत्र में उसका प्रभाव अद्वितीय है। इसी लिए कबीर, जायसी, मीरा, दादू, दरिया इत्यादि संतों में उसकी भरमार है। वास्तव में दांपत्य-प्रेम के ही विशद मनोविकार-द्वारा किसी अंश में रहस्य भावमय अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की कुछ-न-कुछ अभिव्यंजना हो सकती है, अन्यथा असंभव है। गौने जाना, सिलसिली गैल में चलना, विरह में तड़पना सब प्रतीक ही हैं।

रहस्यवाद तथ्य के आलोक का मानसिक प्रतिवर्तन है। कुछ ऐसे रहस्यवादी हैं, जो सारे निगूढ़ रहस्यों की क्रमशील निबंधना का साक्षात्कार करते और उसे ज्यों-की-त्यों व्यक्त करते हैं। कबीर को ऐसा ही रहस्यवादी कहना चाहिए। इस साक्षात्कार की उपलब्धि की तीन अवस्थाएँ हैं—पूर्व-तद्रूप, तद्रूप तथा प्राग्-तद्रूप। तद्रूप होने के प्रयास की आदिम अवस्था से लेकर तद्रूप होने तक की अवस्था को पूर्व-तद्रूप अवस्था कहते हैं। तन्मय हो

जाने की अवस्था को तद्रूप अवस्था कहते हैं। तथा तन्मय होने के परे की अवस्था को प्राग्-तद्रूप अवस्था कहते हैं। हिंदी में कबीर के रहस्यवाद में तीनों परिस्थितियाँ मिलती हैं।

नाटक में रहस्यवाद की उद्भावना संसार में कहीं नहीं हुई। शेक्सपियर आदि नाटककार रहस्यवादी नहीं हैं। रहस्यमयी भावनाएँ दर्शकों के लिए सुबोध नहीं कही जा सकतीं। शेक्सपियर की कृतियों में अध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति अवश्य है। अध्यात्मवादी और रहस्यवादी में थोड़ा भेद है। अध्यात्मवादी व्यक्त क्रिया-कलाप और गल्पात्मक स्वरूप-विधान के कारण ही खोज में चिंतित रहता है। परन्तु रहस्यवादी ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रत्येक तथ्य के अन्तिम निष्कर्ष को जानता है। इतिहास की भाँति युग के साथ साथ किसी क्रम से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ। किसी तार्किक क्रम के कटहरे में रहस्यवाद की किसी स्थिति को बंद करना भी कठिन है। हाँ, देश-काल की परिस्थितियों-द्वारा स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है। हिंदू सिद्धान्तानुकूल प्रकृति का आवरण आत्मा को परोक्ष-सत्ता के निरूपण में विघ्न उपस्थित करता है, और वह उसके परित्याग की भावना को अत्यन्त तीव्रता के साथ व्यक्त करता है। सूफ़ी इस प्रतिरोध को नहीं मानता। सूफ़ी भावना से प्रेरित होकर कबीर ने लिखा है—

मूये पीछे मत मिलौ, कहै कबीरा राम।
सोना माटी मिल गया, फिर पारस केहि काम॥

कबीर इस मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबंध न मानकर उसे भी सोना बनाना चाहते हैं। इस महान सत्ता के संपर्क से जड़ प्रकृति भी चैतन्यमयी हो सकती है। परन्तु उसी समय तक, जब तक उसमें स्वयं उस महान् शक्ति का स्फुलिंग उपस्थित है। सारा विश्व एक बृहत् क्रिया-कलाप का गत्यात्मक पिंड है। उसी में अखण्ड सत्ता का हृदय—जिसे ईश्वर कह सकते हैं—है, और वही सारे स्वरूपों और नाम-रूपों की जाति, उद्गम और ध्वंस का केन्द्र है। इसकी सम्यक् जानकारी अभ्यासी क्रमशः ही उपलब्ध कर सकता है। उसकी उन्नति उतनी ही गति से होगी, जितनी वेगवती उसकी उपास्य-भावना है, और जितना अधिक उसका हृदय परिष्कृत है। उपासना का अभिप्राय स्थूल देववाद की भावना से प्रेरित होकर पूजा इत्यादि करने का नहीं है।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतन-जगत् तक ही रहा। इसकी कुछ झलक उपनिषदों में अवश्य मिलती है, वैसे सारा संस्कृत-काव्य-साहित्य रहस्यवाद से दूर है। यह अवश्य है कि देश की सुख-समृद्धि से मनुष्य बाह्यमुखी अवश्य रहता है, परन्तु जिस भारतवर्ष में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि के पैनेपन से संसार को चकित कर रक्खा है, वह रहस्यवाद की अभिव्यक्ति से बचा रहे,यह विचारणीय अवश्य है। यहाँ का सारा संस्कृत-काव्य रहस्यवाद से अधिकतर बचा रहा। भारतीय धर्म में मूर्तिपूजा की स्थापना करके भावना के लिए एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। सारी भावना प्रतिमा में संमिलित करदी गई

है। सारे संस्कृत कवियों ने, नितांत अर्वाचीन हिन्दी कवियों को छोड़कर सारे हिन्दी-कवियों ने अपनी भावना के विस्तार के लिए भगवान के साकार स्वरूप को ही आलंबन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका। चित्रों की सुन्दर-से-सुन्दर व्यंजना दिखाई देने लगी। हिन्दी कवियों में—कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में—जो रहस्यवाद की झलक यत्र तत्र दिखाई देती है, वह सूफ़ी मत के प्रभाव के कारण। सूफ़ियों के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे "पर्दे-बुतों" में 'नूरे-ख़ुदा' देखते हैं, और बुतों के सामने सिजदा करना उतना ही पाक समझते हैं जितना कि खुदा के सामने। इसीलिए कट्टर सुन्नियों ने सूफ़ियों को काफ़िरों के दल में खदेड़ दिया।

व्यक्त-स्वरूप पर अधिक अनुरक्ति ने सूफ़ियों में अंतर्दृष्टि के अभ्यास को मंद कर दिया। वे अधिकतर बाह्य सौंदर्य तक ही सीमित रहे। किसी-किसी परिस्थिति में उनके मनोभाव में विकार उत्पन्न हो गया, और सौंदर्य-बाहुल्य का प्रभाव मनोमुग्धकारी न रहकर स्थूल इंद्रियों में प्रकंपन उत्पन्न करने लगा। सौंदर्य हृदय में गड़ा तो, परन्तु विस्मय परिपाक स्वरूप गत्यात्मक महान् अक्षय परोक्ष सौंदर्य आलोक की ओर न ले जाकर मांस-पिंड तक ही सीमित रह गया। इसी से लोग बिगड़े, और बुरी तरह बिगड़े। अमूर्त, गुण, दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि के विश्व-रूप सौंदर्य तक उनकी पहुँच न हो सकी। मूर्त पदार्थों तक ही उनका मन टिका। करुणा-संपन्न व्यक्ति पर मुग्ध होकर सूफ़ी रहस्य

भावना में लीन हो सकते थे, परन्तु करुणा के अमूर्त गुण पर नहीं। हिन्दी-साहित्य के वर्तमान रहस्यवादी कवियों ने किसी अंश तक इस कमी को पूरा किया है। जयशंकरप्रसाद के अजातशत्रु-नामक नाटक में करुणा की व्याख्या में कवि किस प्रकार रहस्य-वादमय हो जाता है, उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है॥

इत्यादि।

रहस्यवाद का सूफ़ीवाद पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसी से प्रेरित होकर सूफ़ी लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री इसी में समझने लगे कि वे सुन्दर स्त्री और सुन्दर बालक की ओर आँखें फाड़कर देखें। इसी से वे ऐहिक विलास में पड़ गये, और भारतीय प्रवाह पहले मूर्तिपूजा की ओर झुका, और अब गुणों के सूक्ष्म सौंदर्य के आलोक में सच्चे रहस्यवाद का चित्र खड़ा कर रहा है।

स्परजन-नामक एक अँगरेज़ विद्वान् ने रहस्यवाद पर एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उसने रहस्यवादी कवियों को उनकी चिन्तन प्रणाली के अनुसार कुछ कोटियों में विभाजित किया है। उनकी कुछ चर्चा नीचे दी जाती है—

(१) प्रेम और सौंदर्य-संबंधी रहस्यवादी।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी।

(३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी।

(४) प्रकृति-संबंधी रहस्यवादी।

पहली कोटि में अँगरेज़ी का प्रसिद्ध कवि शैली आता है। हिंदी के प्राचीन कवियों में जायसी, कबीर और नवीन कवियों में 'भारतीय आत्मा' और 'नवीन' इस कोटि में आ जाते हैं।

दूसरी कोटि में अँगरेज़ी कवि ब्लैक और कहीं-कहीं ब्राउनिंग है। हिंदी में जयशंकरप्रसादजी इस कोटि में आ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का 'केशव, कहि न जात का कहिए' विनय-पत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी कोटि में आता है।

तीसरी कोटि में मीरा, निर्गुणिये कवि दादू इत्यादि और कहीं-कहीं प्रेमवादी जायसी तथा कुतबन आते हैं। तुलसीदास रहस्य-वादी नहीं हैं, परंतु उनका 'सियाराम मै सब जग जानी' पद इसी कोटि में ही आता है।

चौथी कोटि में अँगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ आते हैं। हिंदी के वर्तमान कवियों में सुमित्रानंदन और रामनरेश त्रिपाठी के कुछ पद इस कोटि में आ जाते हैं।

फ़ारस और इंग्लेंड के रहस्यवाद के इतिहास से एक बात तो स्पष्ट ही है कि जनसत्तात्मक विचारों की क्रांति से बहुधा रहस्यमयी भावना का प्रादुर्भाव होता है। ह्वीट्स साहब आयर्लैंड निवासी हैं। कबीर समाज के नीच जुलाहे थे। कभी-कभी बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता से भी अभ्यंतर-मुख होकर लोग रहस्यवादी हो जाते हैं।

यह बात न भूलनी चाहिये कि किसी विशेष 'वाद' में पड़ कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी

सुन्दर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यन्त आकर्षक बना देती है। परतु जब वह कविता की शक्ति किसी 'वाद' विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद ही क्यों न हो, तो वह कविता न रहकर केवल तुकबंदी ही रह जाती है। कबीर ने ही जहाँ कहीं रहस्यमयी भावना के बिना ही रहस्यवाद के निरूपण के लिये कविता के पद खड़े किए हैं, वहाँ के छंद बिलकुल नीरस हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानी॥

वर्तमान युग की कविता में यद्यपि कबीर की भाँति केवल 'वाद' के निरूपण की कविता में नीरस पद्य संभवतः न मिलेंगे, परन्तु ऊटपटांग चित्रों की भरमार है। इनके बीच में पड़कर सच्चे चित्रों और मार्मिक कवियों को भी लोग संदेह से देखते हैं। 'भारतीय आत्मा' तथा बालकृष्ण शर्मा कहीं-कहीं पर रहस्यवाद के अच्छे-अच्छे चित्र उपस्थित करते हैं। प्रसाद जी एक दार्शनिक वृत्ति के कवि हैं। यह प्रायः रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं, परन्तु उनमें सर्वत्र रहस्यवाद नहीं है। हाँ, उनकी चिंतन-शैली दुरूह अवश्य है, और उनके चित्र संश्लिष्ट हैं। उपमाएँ उनकी अनूठी और भाव-व्यंजना नितांत नवीन है। पं० सुमित्रानन्दनजी पंत अधिकतर विस्मयवाद के रूपक सामने रखते हैं। रहस्यवादी अधिक न होकर वह 'विस्मयवादी' कहे जा सकते हैं। अन्योक्ति

का अधिक सहारा लेने के कारण उनके चित्र दुरूह हो गए हैं। इसी लिए लोगों ने उन्हें रहस्यवादी कहना आरम्भ कर दिया। 'निराला' जी की पंक्तियों में जहाँ कहीं रहस्यवाद लाने का प्रयास किया गया है, वहाँ तुकबंदियों का स्वरूप दिखाई देता है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वर्तमान हिन्दी के कवियों में रहस्य-वादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्यवाद देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न भिन्न बातें हैं।

कोलम्बो की सैर

जिस तरह अँगरेज़ी-राज्य स्थापित होने से पहले कलकत्ता कुछ भी नहीं था, विदेशी शासन से पहले कोलम्बो की भी वही दशा थी, पर आज-कल कोलम्बो केवल लङ्का के ही लिए नहीं, समस्त संसार के लिए एक विशेष स्थान रखता है। १४ वीं शताब्दी के तृतीयांश में जब कि विक्रमबाहु तृतीय (१३५७-१३७४ ई०) गम्पोला से लङ्का पर शासन कर रहा था, उसके प्रधान मंत्री अलकेश्वर ने (अलगक्कोनार-तामिल) वर्तमान् कोलम्बो से ६ मील पर जयवर्द्धनपुर बसाया। जयवर्द्धनपुर तब से अब तक कोट्टे के ही नाम से प्रसिद्ध है। लङ्का को जिस समय पाश्चात्य जातियों से साम्मुख्य करना पड़ा था, उस समय वही राजधानी था। १५ नवम्बर १५०५ ई० को सर्वप्रथम दोम्-लोंसों द-अल्मेदा प्रथम पोर्तगीज़ कोलम्बो पहुँचा; और तभी से इस अप्रसिद्ध कोलम्बो का भाग्योदय होने लगा। पोर्तगीज़ों ने कोलम्बो-निवासियों पर बड़ा प्रभाव डाला। सिंहल-इतिहास 'राजावलिय' के अनुसार उनके विषय में राजा को इस प्रकार की सूचना दी गई थी—"हमारे कोलम्बो के बन्दर में एक जाति के लोग हैं, जो रंग में सफ़ेद हैं। ये लोहे के जामा और लोहे की ही टोपी पहनते हैं।" ये एक क्षण भी एक स्थान पर नहीं खड़े होते: सर्वदा इधर-उधर

घूमते रहते हैं; ये पत्थर के ढेले खाते हैं, और रक्त पीते हैं; ये एक मछली या लेमू के लिए दो तीन अशर्फ़ियाँ दे देते हैं। युग-धर पर्वत पर बिजली के गिरने से उतनी आवाज़ नहीं होती जितनी इनकी तोपों की होती है। इनकी तोप का गोला कोसों तक पहुँचता है; और पत्थर के क़िले को भी छिन्न-भिन्न कर देता है।" पोर्तगीज़ राजदूत ख़ूब घुमाफिराकर तीन दिन में दर्बार में पहुँचाया गया, यद्यपि कोट्टे कोलम्बो से ६ ही मील है। उस समय मुसलमान व्यापारियों ने बहुत कोशिश की कि लोरेंसो सफल-मनोरथ न हो; क्योंकि उस समय लङ्का का सारा ही व्यापार इन्हीं मुसलमानों के हाथ में था। (ये 'मूर' कहे जाते हैं)। परन्तु लोरेंसो का अभीष्ट सिद्ध हुआ। राजा वीरपराक्रमबाहु अष्टम ने पोर्तगाल की संरक्षता स्वीकार की; और बदले में दारचीनी की भेंट प्रदान की।

थोड़े ही दिनों बाद पोर्तगीज़ों ने कोलम्बो में अपना क़िला बनाया। १५२४ में पोर्तगाल-नरेश की आज्ञानुसार यद्यपि यह किला तोड़ दिया गया, तो भी कोलम्बो की उन्नति होती ही गई। १६४४ ई० तक कोलम्बो पर पोर्तगीजों का झंडा फहराता रहा; इसके बाद यह हालेंडवालों के हाथ में आया। अन्त में १५ फ़रवरी १७९६ में डचों से अँगरेज़ों ने छीन लिया। इस प्रकार कोलंबो छोटे से मछुओं के गाँव से बढ़कर आज प्रायः ढाई लाख आबादी का एक आधुनिक नगर बन गया। जिन तीन पाश्चात्य जातियों का प्रभुत्व कोलंबो पर रहा, उन्होंने अपने अनेक चिह्न छोड़े हैं।

पोर्तगीज़ों का सबसे बड़ा चिह्न उनके द्वारा बनाये गये लाखों रोमन कैथलिक ईसाई हैं। ये लोग बलपूर्वक ईसाई बनाये गये थे। कोलंबो में इनकी यथेष्ट संख्या है। डचों की बनाई हुई कितनी ही इमारतें अब भी मौजूद हैं।

भारत से यहाँ आने के दो रास्ते हैं, एक तो धनुषकोडी (रामेश्वरम्) से जहाज़ पर बैठकर दो घंटे में मन्नार की खाड़ी पार हो, रेल-द्वारा १२ घंटे में कोलंबो पहुँच सकते हैं। अथवा बम्बई से जहाज़ में बैठकर कोलंबो आ सकते हैं। अधिकतर भारतीय पहले ही रास्ते से आते हैं। भारत में आने-जाने का कोलंबो का सबसे बड़ा स्टेशन मर्दाना पहले मिलता है। पर हमारे यात्री को यहाँ न उतर कर एक स्टेशन और आगे फ़ोर्ट स्टेशन पर जाना होगा। स्टेशन से बाहर आपको घोड़ागाड़ी या इक्के नहीं मिलेंगे, हाँ रिक्शा और मोटरें आप चाहे जितनी ले लें। यदि आप अँगरेज़ी जानते हैं तो भाषा की कठिनाई आपको बिलकुल नहीं होगी लेकिन एक बात के लिए आपको सावधान रहना चाहिए; आप किसी को 'कुली' न कहें। रेलवे-कुली को 'पोर्टर' कहकर आप बुला सकते हैं। यों तो आप उसकी पोशाक से और अँगरेज़ी में बात चीत करने से 'कुली' कहने की हिम्मत न करेंगे; तो भी आपको ख़बरदार कर देना आवश्यक है; क्योंकि 'कुली' शब्द उनके लिए बहुत असह्य है। यह उन भारतीयों के ही लिए व्यवहृत होता है, जो यहाँ के चाय और रबर के बग़ीचों में काम करने के लिए लाखों की संख्या में आते हैं।

स्टेशन से यदि आप पसंद करें, तो किराया पर मोटर कर सकते हैं; किन्तु हमारे कुछ उत्तर भारतीय मित्रों की सम्मति तो यही थी, कि यहाँ एक ही चीज़ सस्ती है और वह है रिक्शा। भूमध्यरेखा के सिर्फ़ ६ अंश दूर पर के इस स्थान में १२ बजे की धूप में नंगे पैर रिक्शा लिए भागते हुए, इन आदमियों को देख कर आप अवश्य गोस्वामी जी की कोई चौपाई, सो भी लंका-कांड की, कहे बिना न रहेंगे। स्टेशन से सबसे पहले आपको यहाँ की चौरंगी या ठंढी सड़क की ओर चलना चाहिये। इसे फ़ोर्ट कहते हैं। फ़ोर्ट स्टेशन से बहुत दूर नहीं है। इच्छा हो तो स्टेशन के सामने वाली ट्राम से आप दो मिनट में पहुँच सकते हैं। थोड़ी ही दूर पर चहारदिवारियों से घिरी कुछ बारकें मिलेंगी; यही 'चामर्स ग्रेनरी' है। लंका में चावल का सबसे बड़ा ज़खीरा यही है। आपको मालूम होना चाहिये कि इँगलेंड की भाँति लंका भी शायद तीन मास से अधिक के लिये अनाज नहीं पैदा करता। यहाँ की पैदावार है चाय, रबर और नारियल। इससे आप चामर्स के अन्न-भण्डार का महत्त्व समझेंगे। चावल का व्यापार अधिकतर मद्रासी हिन्दू चेट्टियों के ही हाथ में है। यहाँ से कुछ आगे चलने पर चौरंगी आरम्भ हो जायगी। दोनों तरफ़ विशाल भवन हैं; जिनमें बड़ी बड़ी अँगरेज़ी कंपनियों की दूकानें हैं। कहीं कहीं, कोई कोई भारतीय व्यापारी भी मिलेंगे। इन भारतीय व्यापारियों में अधिकतर गुजराती खोजे और बोहरे मुलतानी मुसलमान हैं। ये जवाहिरात और रेशम आदि का व्यापार करते हैं।

आप इसी सड़क से कुछ ही मिनटों में कोलंबो बन्दर पर पहुँच जायँगे। कोलंबो का बन्दर स्वाभाविक बन्दर नहीं है। १८८२ ई० तक गाल लङ्का का सबसे बड़ा बन्दर था। सहस्राब्दियों से अरब, ईरान, चीन, जावा के व्यापारी यहीं आकर मिलते थे। १८८२ के बाद करोड़ों रुपये लगाकर कोलंबो का बड़ा बन्दर तैयार किया गया, और उसके साथही लक्ष्मी देवी भी गाल से हट गई। इसमें विशालकाय पचासों जहाज़ अपना अपना लंगर डाले खड़े रहते हैं। दिन को कभी दरियाई घोड़ों की लहरों पर की दौड़ और कभी आकाश में उड़ना देखने के लिए कितने ही लोग आपको एकत्र मिलेंगे। रात के समय तो बिजली की रोशनी से चारों ओर—स्थल-जल जगमगा उठता है। यदि आप चाहें, तो आठ आना पैसा फेंक कर, छोटी मोटरनाव पर चढ़ सकते हैं, दो घटे में वह आपको सारे बन्दर की सैर करा देगी। यदि फ्रेंच, अँगरेज़ी, अमेरिकन, जर्मन, जापानी किसी जहाज़ के देखने की इच्छा हो तो वह भी मुश्किल नहीं; ज़रूरत सिर्फ़ रुपये की है।

बन्दरगाह से निकलने पर अब दाहिनी ओर की सड़क पर हो जाना चाहिए। दो मिनटों में अब आप उस सड़क पर पहुँच गये, जो यहाँ की सबसे पवित्र सड़क है। यहाँ बड़े डाकघर के सामने बग़ीचे का दरवाज़ा-सा दिखलाई पड़ेगा; जिसके दरवाज़े पर ज्येष्ठ-वैशाख की धूप में, काला ऊनी कोट पहने हुए पुलिसमैन खड़ा है। पुलिसमैन ही क्यों; आपको बारह बजे दिन में कितने

ही सिंहाली साहब भी, गर्म ऊनी लबादेदार कोट पहने मिलेंगे; आख़िर उन बेचारों के लिए यदि प्रकृति ने जाड़ा नहीं दिया तो क्या वे ऊनी कपड़ों के पहनने का शौक़ ही न पूरा करें ? यही क्या आप में से कितनों को तो उस कड़ाके की गर्मी में इन साहबों को उबलती चाय और काफ़ी पीते भी देखकर असह्य मालूम होगा। लेकिन आपको समझना चाहिए कि कितनी ही बातों में लंका और उसकी राजधानी भारत से सदियों आगे बढ़ आई है।

यही बग़ीचे वाला घर 'क्वीन्स हौस' (महारानी का घर) कहा जाता है; क्योंकि यह उस समय बना था, जब महारानी विक्टोरिया राज्य-शासन करती थीं। यही 'वाइस्रीगल लाज' है, जिसमें सीलोन के गबर्नर रहते हैं। चुपचाप आफिसों को देखते, ज़रा इस बस्ती को पार कर जाइये; अब आप फिर समुद्र के तट पर पहुँच गये। बाईं ओर कौंसिलहॉल और सेक्रेटरियट की इमारतें हैं। कुछ क़दम आगे बढ़ने पर नहर पार कर आप एक हरे-भरे मैदान में पहुँचेंगे। यदि सायंकाल का समय है; सूर्य हो या न हो पर उसका विष बुझ चुका हो; तो विशाल नीले समुद्र की लहरों पर से आनेवाली हवा एक बार आपके तीनों ही ताप भुलवा देगी, शारीरिक ताप की तो बात ही क्या ? यदि कहीं कराल-काल के चक्रसुदर्शन से आर्त, सहस्रांशु के सागर के अनन्त गर्भ में लीन होने का अवसर आगया हो; तब तो कहना ही क्या है। नीचे आपके पैरों से आकाश के छोर तक, सारा समुद्र लाल हो जाता है। उसकी अनन्त छींटें आकाश को भी लाल कर देती

हैं। समुद्र के तट पर पड़ी कुर्सियों पर ज़रा बैठ जाइए; देखिये, लहरें कैसे एक दूसरे पर चढ़ाई करती आपके पैरों के नीचे तक आजाती हैं। इस नहर से प्राय: ½ मील भर फैला हुआ यह मैदान, कोलम्बो का सबसे रमणीय स्थान है; यद्यपि हरी घास के फ़र्श, मामूली बेंचें और किनारे पर बाँध के अतिरिक्त, मनुष्य ने इसके शृंगार के लिए कोई साधन नहीं प्रस्तुत किया है; तो भी यह बहुत ही रमणीय है।

यहाँ से सामने गहरी रामरज मिट्टी में रँगा हुआ प्रासाद दिखाई दे रहा है ; इसे आप रामरज में रँगा हुआ समझकर तापसों की कुटिया न समझें। यह है 'गालफेस होटल' फ्रेंच में 'होतेलदिल्युस्'। यह है पेरिस (परी) का टुकड़ा। इसके ह्राते में सैकड़ों मोटरें देखकर आपको घुड़दौड़ का मैदान याद आने लगेगा। समुद्र के तट पर बाहर से भोली-भाली-सी मालूम होने वाली यह इमारत अन्दर से वैसी भोली नहीं है। जीवन के आनन्द को लूटने के लिए, कितने ही कोलम्बो-वासी सिंहाली साहब इसमें ही वास करते हैं। भीतर की स्वच्छता, सौन्दर्य, सनियमता के लिए क्या कहना है ? यहाँ आवश्यकता है, रुपये और हृदयहीन हृदय की। यहाँ से दक्षिण दिशा की सड़क, पचासों मील तक समुद्र के किनारे किनारे चली गई है। इसी पर कोलम्बो से ६ मील पर, समुद्र-तट पर दूसरा सुन्दर 'मौंट लेवनिया होटल' है। यह अपने सामुद्रिक स्नान के लिए विशेष प्रसिद्ध है।

होटलों की सैर के बाद अब आप कोलम्बो के बड़े बाज़ार में

चलिए, यह पेट्टा कहा जाता है। सड़क पतली है, इसमें ट्राम की दुहरी लाइनें भी हैं। भीड़ यहाँ भी बड़े बाज़ार की ही तरह है। मारवाड़ियों की जगह, यहाँ गुजराती बोहरों और खोजों ने ले रक्खी है। इन गुजराती मुसलमानों में कितने ही करोड़पति हैं। अभी फ़ोर्ट में एक बड़े मार्के की ज़मीन, एक बोहरे सेठ ने दस लाख से ऊपर पर ख़रीदी है, अब वह उस पर १५ लाख और ख़र्च करने जा रहा है। उससे पहले ही से 'ग़फूर बिल्डिंग' की शानदार इमारत फ़ोट में बन्दर के पास खड़ी है; यह कोलम्बो की सर्वोत्तम इमारतों में है। पेट्टा में गुजराती मुसलमान व्यापारियों का अकण्टक राज्य समझिए, बीच में मामूली दूकानें सिंहालियों या दूसरों की भी टिमटिमा रही हैं; किन्तु उनका कहाँ मुक़ाबिला? कहीं कहीं दो-चार दूकानें सिन्धी और मुलतानी हिन्दुओं की भी हैं। ये लोग अधिकतर रेशम आदि का व्यापार करते हैं। मारवाड़ी का पता तक नहीं है। शायद बेचारे खारे पानी से बहुत डरते हैं। लेकिन अब तो शायद धर्म के गलने का डर नहीं होना चाहिए। मारवाड़ी ऐसी व्यापार-कुशलता यहाँ किसी जाति में नहीं है, सबसे विशेषता मारवाड़ी-जाति की कलम-लगाई है। जो मारवाड़ी बच्चा मुनीमी करने के लिए भी, अभी ताज़ा मारवाड़ की प्यासी भूमि से आया है; वह भी चाहता है, कब वह अपना स्वतन्त्र कारोबार करेगा। उसकी यह धुन खुद उसके मालिकों को भी कितने ही बार कार-बार में पत्ती देने का प्रलोभन देने के लिए मजबूर करती है। अन्त में पन्द्रह वर्ष

के बाद वह मुनीम खुद सेठ बन जाता है और इस प्रकार कलम से कलम लगने की बात जारी रहती है। यह गुण यहाँ की किसी व्यापारिक जाति में नहीं है। ऐसी अवस्था में मैं कह सकता हूँ, कि यदि मारवाड़ियों का खारे पानी का डर मिट जाय; और वे रामेश्वर से १४ घंटे के रास्ते पर और आ जायँ, तो यहाँ उनके लिए बड़ा भारी मैदान है।

पेट्टा की सैर के बाद ज़रा पास की 'सी स्ट्रीट' में चले चलें; यह मद्रासी चेट्टियों का मुहल्ला है। जान पड़ता है, कितने ही मन्दिर तंजोर और कुम्भकोण से लाकर रख दिये गये हैं। छोटी छोटी कोठरियो में नग्न कृष्णकाय चेट्टी अपने मुनीमों-सहित बैठे हुए हैं। सारे सीलोन के चावल का और लेन-देन का सारा कार-बार इन्हीं के हाथ में है। घंटों के अन्दर लाखों रुपये निकालकर दे देना इनके बायें हाथ का खेल है। ये सभी चेट्टी मद्रासी हैं; जाफना के नहीं। सीलोन के उत्तरी भाग में भी सोलह आने तामिल भाषा-भाषी ही बसते हैं; लेकिन ये लोग जाफना-तामिल कहे जाते हैं; और मद्रासियों की तरह व्यापार और कुलीगीरी की अपेक्षा, क्लर्की अधिक पसंद करते हैं। इसी सड़क पर सर रामनाथन् का मन्दिर बन रहा है। चिदम्बरम् और मदुरा के नमूने के पत्थर के मण्डप बन रहे हैं; लाखों रुपये व्यय हो रहे हैं; पर सर साहब को, इन पत्थर के मकानों के खड़े करने की जितनी भक्ति है, उतनी उन अपने सह-धर्मियों के लिए नहीं, जो हजारों की संख्या में हर साल ईसाई बनते जा रहे हैं। शायद उन्हें

मन्दिर वालों की अपेक्षा मन्दिर का अस्तित्व अधिक वाञ्छनीय है। इसका यह मतलब नहीं कि सर रामनाथन् लोकोपकारक कार्यों से अलग रहते हैं। वे जाफना में अपने धन से लड़कों और लड़कियों के दो कालेज चला रहे हैं। अमेरिकन रमणी से विवाह करने पर भी, वे पक्के हिन्दू हैं।

अब हमें पेट्टा की सीमा छोड़कर एक दूसरे भाग में चलना है, जिसमें रायल कालेज, जादूघर, घुड़दौड़, टाऊन हाल और सिनामोनगार्डन मुहल्ला है। रायल कालेज लंदन-यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध सरकारी कालेज है; उसको अब यूनिवर्सिटी-कालेज कहते हैं। सीलोन में अपना विश्वविद्यालय न होने से, यहाँ सभी कालेज लंदन-यूनिवर्सिटी की ही परीक्षा दिलाते हैं। इनमें सिर्फ़ यही यूनिवर्सिटी कालेज है, जहाँ बी० ए० तक की पढ़ाई होती है। मैट्रिक तक की पढ़ाई वाले स्कूल भी यहाँ कालेज ही कहे जाते हैं। आगे चलकर अब हम 'सिनामोनगार्डन' (दारचीनी के बगीचे) में प्रवेश करते हैं; लेकिन अब यह दारचीनी का बगीचा नहीं है; पहले, पोर्तुगीज़ों और डचों के काल में था। अब तो यह कोलम्बो के धन-कुबेरों के बँगलों से सुशोभित है। इसी में 'टाऊन हाल' है। यह सीलोन की सर्वोत्तम इमारतों में है। अभी हाल ही में तैयार हुआ है, टाऊन हाल के सामने विक्टोरिया पार्क है। बग़ीचे की कोई उतनी विशेषता नहीं है। इसमें टेनिस खेलने के कई क्षेत्र हैं। उसके बाद आपको जादूघर दिखलाई पड़ेगा। सभी जादूघरों की तरह यहाँ भी मूर्तियाँ, शिलालेख, मुर्दे जानवर रक्खे

हुए हैं। विशेषता है, एक सङ्गमरमर के से पत्थर से बने लङ्का के चित्र की, जिसमें पहाड़ों की ऊँचाइयाँ और दूरियाँ, बड़ी अच्छी तरह दिखलाई गई हैं। म्यूज़ियम के ही एक कोने में पुस्तकालय है। पुस्तकालय लङ्का के योग्य नहीं है। इसी में सीलोन-शाखा एसियाटिक सोसाइटी का पुस्तकालय भी शामिल है। तो भी मुझे तो बहुधा बड़ा निराश होना पड़ता था। मालूम होता है, सीलोन के लोग अँगरेज़ी भाषा पर जितना ध्यान देते हैं उतना साहित्य पर नहीं। म्यूज़ियम के पास एक दूसरी पब्लिक लायब्रेरी भी है।

म्यूज़ियम से अब मर्दाना स्टेशन को चलना चाहिये; टाऊन हाल से थोड़ी ही दूर आगे मसजिद मिलेगी। मर्दाना स्टेशन के पास एक और भी मसजिद है। इसका आहाता बहुत लम्बा-चौड़ा है। मर्दाना के चारों ओर की बस्ती खूब घनी है। स्टेशन के बाहर मदन-कम्पनी का सिनेमा है। कोलम्बो में मदन-कम्पनी के तीन सिनेमा घर हैं। मर्दाना की पूर्व जानेवाली सड़क पर यहाँ का सबसे बड़ा बौद्ध-कालेज आनन्द-कालेज है, पढ़ाई लन्दन के एफ० ए० तक है। ईंट-चूने पर इन लोगों ने भी लाखों रुपये क़र्ज़ कर लिये हैं। अन्य बौद्ध-शिक्षा-संस्थाओं में नालन्दा कालेज, महबोधी कालेज, और कन्याओं का 'विशाखा कालेज' है। शिक्षा में लङ्का भारत से बहुत आगे है, इसलिये लङ्कावासी बौद्ध-बन्धुओं का इधर ध्यान आकृष्ट होना आवश्यक ही है, तो भी शिक्षा का बहुत-सा काम ईसाइयों के हाथ में ही है, यद्यपि अब वे भी बौद्धों की जागृति का अनुभव करने लगे हैं।

कोलम्बो की उत्तरी सीमा केलनी (कल्याणी) गंगा है। इसी के किनारे कल्याणी-विहार है, जो लङ्का के सर्वोत्तम बौद्ध-तीर्थों में है। अमावस्या और पूर्णिमा के दिन आप यहाँ हज़ारों स्त्री-पुरुषों को पाएँगे। अभी हाल ही में एक गृहस्थ ने बिजली की रोशनी के लिए इंजन लगवाया है, और दो लाख रुपये लगा कर मन्दिर बनवाने का काम आरंभ कर दिया है। केलनी-विहार से डेढ़ मील पर केलनिया स्टेशन है, जिसके पास ही विद्यालङ्कार विद्यालय है। यह विद्यालय भिक्षुओं का है, जिसमें अधिकतर भिक्षु ही पढ़ते हैं। इस तरह का एक विद्यालय कोलंबो में भी है, जिसका नाम विद्योदय है। विद्योदय सब से पुराना और विद्यार्थी-संख्या में भी सब से बड़ा भिक्षुविद्यालय है।

केलनिया स्टेशन से हम एक मील पैदल चलकर कल्याणी गङ्गा के घाट पर पहुँच सकते हैं, और उसके उस पार ट्राम है। यह ट्राम १० सेंट (प्राय: छ: पैसे में) फोर्ट पहुँचा देगी। रास्ते में पहले आपको सिंहाली शहर की बस्ती देखने का मौक़ा हाथ लगेगा। कहीं-कहीं आपको सूखी मछलियों की गंध अवश्य बेचैन कर देगी, चाहे आप भले ही भारतवर्ष से ही मत्स्यावतार के प्रेमी हों; लेकिन यह तो सारे लङ्का में साधारण बात है। कुछ दिन के अभ्यास पर शायद आप भी इसमें कन्नौज की गलियों की-सी सुगन्ध मालूम करने लगें। ट्राम्वे के दोनों बगल में सारी छोटी-छोटी दुकानें ही हैं। केला और चाय आप यहाँ अधिक देखेंगे। यह बात यहीं नहीं सारे सिंहलद्वीप में है।

कोलम्बो की सैर में आपको कुछ विशेष बातें मालूम होंगी। एक तो कुछ भागों को छोड़कर बाकी सभी जगह मकान एक तल्ले ही हैं। खास बाजारों को छोड़कर, नारियल के वृक्ष तथा फूल-पत्ते आप हर जगह देखेंगे। चाहे कोई मास हो, हरियाली सदैव बनी रहती है; क्योंकि यहाँ वर्षा हर सप्ताह हो जाया करती है। मई तो वर्षा का मास ही ठहरा। मुसलमानों को छोड़ कर यहाँ पर्दा बिलकुल नहीं है; सिंहली स्त्रियाँ तो इस प्रकार कुर्ती पहनती हैं कि आधा कन्धा ऊपर से खुला रहता है। शिर नङ्गा रहना तो उनके लिए धर्म-सा है।

एक जगह और चलिए। यह है 'हेवलाक टाऊन में, इसि (ऋषि) पतनाराम'। बनारस के छः मील उत्तर सारनाथ है। उसी का यह पुराना नाम है। यहाँ एक छोटा-सा मन्दिर है जो बड़े ही सुन्दर चित्रों और मूर्तियों से अलंकृत है। यद्यपि इसे बने हुए बहुत दिन नहीं हुए तो भी लोग इसको भी कोलम्बो की दर्शनीय चीजों में समझते हैं। १९१५ ई० में लङ्का में मार्शल्-ला की घोषणा हुई थी, उसी में यहाँ के एक करोड़पति का, तरुण-पुत्र बलिदान हुआ! उसी की स्मृति-रक्षा के लिए, भगवान् बुद्ध का यह मन्दिर, उसके धनाढ्य पिता ने बनवाया है।

श्री देवचन्द्र विशारद, द्वारा हिन्दी भवन प्रेस
लाहौर में मुद्रित

दक्षिण-गंगा गोदावरी

(१)

हम बचपन में सबेरे उठकर, मराठी की प्रभातियाँ गाते थे—जिनकी ये चार सतरें तो आज भी याद हैं :—

उठोनियाँ प्रात:काळीं । वदनी वदा चंद्रमौळी ।
श्री बिंदुमाधवा जवळीं । स्नान करा गंगेचे । स्नान करा गोदेचे ॥

× × × ×

कृष्णा वेण्या तुंगभद्रा । सरयू कालिंदी नर्मदा ।
भीमा भामा मुख्यगोदा । करा स्नान गंगेचे ॥

गंगा और गोदावरी एक ही हैं, दोनों के माहात्म्य में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं है, अगर कुछ हो भी, तो इतना ही कि कलिकाल के पाप के कारण गंगा का माहात्म्य चाहे किसी क़दर कम हो भी जाय, मगर गोदावरी का माहात्म्य किसी काल में कम होनवाला नहीं है। श्री रामचंद्र के अत्यंत सुख के दिन इसी गोदावरी के तीर पर बीते, और जीवन का दारुण आघात भी उन्हें यहीं सहन करना पड़ा। गोदावरी सचमुच दक्षिण की गंगा है।

कृष्णा और गोदावरी, इन दो नदियों ने दो महान् प्रजाओं का पालन-पोषण किया है। अगर यह कहें कि महाराष्ट्र का

स्वराज्य और आंध्र का साम्राज्य, इन्हीं दो नदियों के चिरऋणी हैं तो इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं। साम्राज्य बने और बिगड़े, महान राष्ट्र चढ़े और गिरे; लेकिन इस ऐतिहासिक भूमि में ये दो नदियाँ अखंड रूप से बहती ही जा रही हैं। ये नदियाँ भूतकाल के गौरवशाली इतिहास की जितनी साक्षी हैं, उतनी ही भविष्य काल की बड़ी-बड़ी आशाओं की प्रेरक भी हैं। इनमें भी गोदावरी का माहात्म्य तो कुछ अनोखा ही है। वह जितनी जलसम्पन्न है, उतनी ही इतिहास-समृद्ध भी है। जिस तरह श्रीकृष्ण के जीवन में सर्वत्र विविधता-ही-विविधता और एकसा उत्कर्ष, भरा हुआ है उसी तरह गोदावरी के अतिदीर्घ प्रवाह के तीर पर भी सृष्टि-सौन्दर्य अपनी विविधता और विपुलता को लिए चारों ओर बिखरा पड़ा है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की एक कल्पना में से जिस तरह सृष्टि का विस्तार होता है, वाल्मीकि की कारुण्यपूर्ण वेदना से जिस प्रकार रामायणी सृष्टि का विस्तार हुआ, उसी तरह त्र्यंबक पहाड़ के कगार से टपकती हुई गोदावरी में से ही आगे जाकर राजमहेन्द्री की विशाल जल-राशि बनी है। जिस तरह सिन्धु और ब्रह्मपुत्रा को हिमालय का आलिंगन करने की सूझी, जिस प्रकार नर्मदा और ताप्ती को विंध्या-सतपुड़ा को पिघलाने की सूझी, उसी प्रकार गोदावरी और कृष्णा को दक्षिण का ऊँचा प्रदेश तर करके, उसे धन-धान्य से सम्पन्न करने की सूझी। ऐसा जान पड़ता है, मानों इन दोनों नदियों को

सह्याद्रि पर्वत का पश्चिम की ओर ढल पड़ना कुछ पक्षपात-पूर्ण- सा मालूम हुआ, और इसीलिए मानों ये उसे पूर्व की ओर खींचने की लगातार कोशिश कर रही हैं।

इन दोनों नदियों के उद्‌गम-स्थान पश्चिमी समुद्र से ५०—७५ मील से अधिक दूर नहीं हैं; फिर भी दोनों ८००—९०० मील की लंबी यात्रा करके अपना जल-भार या कर-भार पूर्व-समुद्र को ही अर्पण करती हैं और यह कर कोई मामूली नहीं है, उसके अंदर सारा महाराष्ट्र देश आ जाता है, हैदराबाद और मैसोर के राज्य भी उसीमें समा जाते हैं, और सारा का-सारा आन्ध्र-देश भी। गोदावरी के सामने मिश्र-देश की संस्कृति की माता नील नदी कोई चीज़ ही नहीं।

त्र्यंबक के सामने पहाड़ की एक बड़ी दीवार में से गोदावरी निकलती है। त्र्यंबक गाँव से जो चढ़ाई शुरू होती है, वह गोदा मैया की मूर्ति के चरणों तक चली ही जाती है। वहाँ से ऊपर जाने के लिए बाईं ओर विकट सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, और इस तरह मनुष्य ब्रह्मगिरि तक पहुँच सकता है। पर वह दुनिया ही कुछ जुदी है। गोदावरी के उद्‌गम-स्थान से जो दृश्य दीख पड़ता है, वह हमारे वातावरण के लिए बहुत अनुकूल है। महाराष्ट्र के तपस्वियों और राजाओं ने समान भाव से इस जगह अपनी भक्ति-भावना की अजंलि चढ़ाई है। कृष्णा के किनारे बाई, सतारा और गोदावरी के किनारे नासिक और पैठण, महाराष्ट्र की सच्ची राजधानियाँ हैं।

किन्तु गोदावरी का सच्चा इतिहास तो परमसहिष्णु रामचन्द्र और दुःखमूर्ति सीता माता के वृत्तांत से ही शुरू होता है। राज-पाट छोड़ते समय राम को दुःख नहीं हुआ; पर गोदावरी के तीर सीता और लक्ष्मण के साथ मनाये हुए आनन्द का अन्त होने पर राम का हृदय तो एकदम सौ-सौ टुकड़े होगया। भेड़ियों और बाघों के अभाव में जो हिरण निर्भय हो गये थे, आर्य राम-चन्द्र की दुःखोन्मत्त आँखें देखकर वे भी दूर भाग गए होंगे और सीता की खोज में देवर लक्ष्मण की दहाड़ें सुनकर तो बड़े-बड़े हाथी भी डर से काँप गये होंगे, और गोदावरी का तरल जल पशु-पक्षियों के दुःखाश्रुओं से कसैला हो गया होगा। हिमालय में जैसे पार्वती थीं, वैसे जनस्थान में सीता सारे विश्व की स्वामिनी थीं। उनके चले जाने पर अगर प्रलयकाल का-सा सार्वभौम दुःख फैला हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

राम और सीता तो फिर भी मिले; पर जनस्थान का वियोग तो हमेशा के लिये बना रहा। आज भी नासिक-पंचवटी में घूम-घूमकर देखें, चौमासे में जाओ या गरमी में, ऐसा लगता है मानों सारी पंचवटी जटायु की तरह शोक से कातर होकर 'हा सीता! हा सीता,' पुकार रही है। महाराष्ट्र के साधु-संतों ने अगर अपनी मंगलमयी वाणी यहाँ न फैलायी होती तो जनस्थान एक भयंकर और ऊजड़ प्रदेश हो गया होता। गरमी का ताप ढाँकने के लिए जैसे हरी-हरी सृष्टि चारों ओर फैल जाती है, उसी तरह साधु-संत भी जीवन की विषमता को भुला देने के लिए सर्वत्र विचरते

हैं; यह कैसा सौभाग्य है! जब-जब नासिक-त्र्यंबक की ओर जाता हूँ, वनवास के लिए इसी जगह को पसंद करनेवाले राम-लक्ष्मण की आँखों से सारा प्रदेश देखने को दिल ललचाता है; पर हर बार कंपित तृणों में भी सीता माता की कातर देह-यष्टि ही दीख पड़ती है। रामभक्त समर्थ-रामदास जब यहाँ रहते थे तब उनके हृदय में कैसी उमंगें उठती होंगी। श्री समर्थ ने गोदावरी के किनारे गोबर के हनुमान की स्थापना भला किस मतलब से की थी? क्या इसलिए कि अगर पंचवटी में हनुमान होते तो वे सीता-माता का हरण कभी न होने देते। लक्ष्मण को कठोर वचनों से घायल करके सीता ने अपने ऊपर एक महान संकट ओढ़ लिया था। हनुमान को वे ऐसी कोई चुभती बात न कह पातीं; पर जन-स्थान और किष्किंधा के बीच में बड़ा अंतर है, और गोदावरी कुछ तुंगभद्रा थोड़े ही है?

(२)

राम-कथा का करुणरस त्रेता-युग से आजतक बहता ही आ रहा है। उसे कौन कम कर सकता है? इसलिए आइए हम हरि-जनों के भैंसे के मुँह से वेदमंत्र का पाठ करवा देनेवाले श्री ज्ञाने-श्वर महाराज से मिलने के लिए पैठण तरफ चलें। जिस तरह गोदावरी दक्षिण की गंगा है, उसी तरह उसके किनारे पर बसी हुई प्रतिष्ठान नगरी दक्षिण की काशी मानी जाती थी। यहाँ के दशग्रन्थी ब्राह्मणों द्वारा दी हुई व्यवस्था चारों वर्णों को माननी पड़ती थी। बड़े-बड़े सम्राटों के ताम्र-पात्रों से भी बढ़कर यहाँ के

ब्राह्मणों के व्यवस्था-पत्रों को मान दिया जाता था। यह तो ज्ञानेश्वर महाराज की ही सामर्थ्य थी कि उस स्थान में भी उन्होंने शास्त्र-धर्म को हराकर हृदय-धर्म को जिताया। संन्यासी शंकराचार्य के उपर किये गये अत्याचार की स्मृति को कायम बनाये रखने के लिए जिस तरह उस देश के राजा ने नंबूद्री ब्राह्मणों पर कुछ कड़े रिवाज़ लाद दिये थे, उसी तरह अगर कोई राजा संन्यासी-पुत्र ज्ञानेश्वर का शिष्य होता तो शायद वह भी महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को सख्त सज़ा देता और कहता कि तुम लोगों को जनेऊ पहनने का आयंदा कोई अधिकार नहीं है।

जैसे हाथ की उंगलियों का पंखा बन जाता है, वैसे ही बड़ी-बड़ी नदियों में आकर मिली हुई और अपने आपको मिटा देने की क्रिया का कठिन योग साधनेवाली छोटी-छोटी नदियों का भी पंखा-सा बन जाता है। सह्याद्रि और अंजना के पहाड़ों की कगारों पर जितना भी पानी बरसता है, उस सबको खींच-खींच कर मैदान में बहा देने का काम ये नदियाँ करती हैं। धारणा और कादवा, प्रवरा और मुला को छोड़ देने पर भी मध्यभारत से दूर-दूर का पानी लाती हुई वर्धा और बैनगंगा को कैसे भूल जायँ? जिसने दो मिलकर एक बनी हुई यहाँ की एक नदी का 'प्राणहिता' नाम रक्खा, उसके मन में कितनी कृतज्ञता, कितना काव्य और कितना आनन्द भरा होगा! और ठेठ ईशान दिशा के कोने से पूर्व-घाट का पानी ला देनेवाली अष्टवक्रा, इन्द्रावती और उसकी सखी श्रमणी तपस्विनी शबरी को प्रणाम किये बिना कैसे आगे बढ़ सकती है?

गोदावरी की सारी कला तो भद्राचलम् से ही देखी जा सकती है । जिसका पाट एक से दो मील तक चौड़ा है, ऐसी गोदावरी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के बीच में से होकर अपना रास्ता साफ़ करती हुई जब सिर्फ दो सौ गज की खाई में होकर निकलती होगी तब भला वह क्या सोचती होगी ? अपनी तमाम ताक़त और तरकीब खर्च करके बड़े ही नाज़ुक मौके में से निकल कर राष्ट्र को आगे ले चलने वाले किसी राष्ट्रपुरुष की तरह दुनिया को आश्चर्य में डालने वाली गर्जना के साथ वह यहाँ से निकलती है । घोड़ा-बाढ़ और हाथी-बाढ़ की बातें तो हम सुनते रहे हैं; लेकिन एक दम पचास फुट जितनी ऊँची बाढ़ क्या कभी कल्पना में भी आ सकती है ? मगर जो कल्पना में संभव नहीं है, वह गोदावरी के प्रवाह में संभव है । तंग गली से होकर निकलते हुए पानी को अपनी सतह सपाट बनाए रखना मुश्किल हो जाता है । अर्घ्य देते समय जैसे अंजलि में छोटे मुँह की नाली सी बन जाती है; वैसे ही खाई में से निकलते हुए पानी की सतह की भी एक भयानक नाली बन जाती है; मगर अद्भुत रस का चमत्कार तो इस के आगे है । इस नाली में से अपनी नाव को ले जाने वाले कई हिम्मतवर मल्लाह भी वहाँ पड़े हुए हैं । नाव के दोनों ओर पानी की ऊँची-ऊँची दीवालों को नाव के ही वेग से दौड़ती हुई देखकर मनुष्य के मन में क्या होता होगा !

भद्राचलम् से राजमहेन्द्री या धवलेश्वर तक अखंडगोदावरी

बहती है। उसके बाद 'त्यागाय संभृतार्थानाम्'⚹ का सनातन सिद्धान्त उसे याद आया होगा। यहीं से गोदावरी ने जीवन-वितरण करना शुरू किया। एक किनारे पर गौतमी गोदावरी है, और दूसरे किनारे पर वसिष्ठ गोदावरी, बीच में कई टापू और अन्तर्वेदी प्रदेश है; और इन प्रदेशों में गोदावरी के मीठे जल और सोने जैसी मिट्टी से पैदा होनेवाले धान से पुष्ट होकर वेद-घोष करनेवाले ब्राह्मण रहते हैं। ऐसे समृद्ध देश को स्वतन्त्र रखने की शक्ति जब हमारे देशवासी खो बैठे, तब डच, अंग्रेज़ और फ्रेंच लोग गोदावरी के किनारे पड़ाव डालने को इकट्ठे हुए। आज भी यानाम में फ्रान्स का तिरंगा झंडा फहरा रहा है।

(३)

मद्रास से राजमहेन्द्री जाते हुए बेजवाड़े से आगे सूर्योदय हुआ। बरसात के दिन थे। इसलिए पूछना ही क्या? जहाँ-तहाँ विविध छटावाली हरियाली फैल रही थी। और हरियाली का इस तरह ज़मीन पर पड़ा रहना जिन्हें नागवार लग रहा हो ऐसे ताड़ के पेड़ जहाँ-तहाँ खड़े हुए इस तरह दिखाई पड़ते थे, मानों हाथ में बड़े-बड़े गुलदस्ते लेकर उछाल रहे हैं। पूर्व की तरफ़, एक नहर रेल की सड़क के किनारे-किनारे बह रही थी। पर किनारा ऊँचा होने के कारण, उसका पानी हमें कभी-कभी दीख पड़ता। सिर्फ़ तितली की तरह अपने-अपने पाल फैलाकर कतार में खड़ी हुई नौकाओं पर से ही हमें नहर का अनुमान करना

⚹त्याग—दान—करने के लिए ही धन-दौलत जमा करनेवाले।

पड़ता था। बीच-बीच में छोटे-बड़े तालाब भी मिलते। इनमें रंग-बिरंगे बादलोंवाला आसमान नहाने के लिए उतरता हुआ दिखाई पड़ता और इससे पानी की गहराई और भी अथाह हो जाती। कहीं-कहीं चंचल कमलों के बीच खामोश खड़े हुए बगुलों को देख कर सवेरे की ठंडी-ठंडी हवा का अभिनन्दन करने को मन मचल पड़ता। इस तरह कविता-प्रवाह में से बहकर जाते हुए कोव्वूर स्टेशन आ गया। मन में यह उमंग भरी हुई थी कि अब यहीं से गोदा मैया के भी दर्शन होने लगेंगे। पुल पर से गुज़रते वक्त दाँयें देखेंगे या बाँयें, हम इसी उधेड़-बुन में थे। पुल आ गया और भगवती गोदावरी का अत्यन्त विशाल बिस्तार दिखाई पड़ा। मैंने गंगा, सिन्धु, शोणभद्र, एरावती जैसी महानदियों के विशाल प्रवाह जी भरकर देखे हैं। बेजवाड़े में कृष्णा माता के दर्शन के लिए मैं हमेशा मग़रूर बना रहूँगा; लेकिन राजमहेन्द्री के आगे गोदावरी की शान-शौकत ही कुछ निराली है। इस जगह पर मैंने जितने भव्य-काव्य का या प्रकृति के ठाठ-बाट का अनुभव किया उतना शायद ही कहीं दूसरीं जगह किया हो। पश्चिम की तरफ़ नज़र फैलाओ तो दूर-दूर तक पहाड़ियों का झुंड नज़र आया। आसमान में बादल घिरे रहने से सूरज की धूप का कहीं नाम-निशान तक न था। बादलों का रंग साँवला होने के कारण गोदावरी के धूलि-धूसरित—मटमैले—जल की झाँई और भी गहरी हो रही थी। भला, ऐसे समय भवभूति की याद क्यों न आती? ऊपर की

ओर नीचे की झाईं के कारण इस सारे दृश्य पर वैदिक प्रभात की शीतल और स्निग्ध सुंदरता छायी हुई थी और टेकरियों पर कुछ उतरे हुए धौले-धौले बादल तो बिलकुल ऋषि-मुनियों जैसे लगते थे। इस सारे दृश्य का वर्णन किया ही कैसे जा सकता है ? इतना यह सारा पानी कहाँ से आता होगा ? विपत्तियों में से विजय-सहित पार हुआ राष्ट्र जिस तरह वैभव की नई नई छटायें बतलाता जाता है और चारों तरफ अपनी समृद्धि फैलाता जाता है, उसी तरह गोदावरी का यह अखण्ड प्रवाह पहाड़ों में से निकलकर अपने गौरव को साथ में लिए हुए आता हुआ दिखाई पड़ता है। छोटे-बड़े जहाज़ तो नदी के बच्चे हैं, जो माता के स्वभाव से परिचित होने के कारण उसकी गोद में मनमाना नाचें, खेलें और उछलें-कूदें तो उन्हें इससे रोकनेवाला है कौन ? लेकिन बच्चों की उपमा तो इन नावों की अपेक्षा प्रवाह में जहाँ-तहाँ पड़ती हुई भँवरों को देनी चाहिए। कुछ देर दीख पड़ीं, थोड़ी ही देर में भयानक तूफान का स्वाँग रचा, और एक ही पल में खिल-खिलाकर हँस पड़ीं। ये भँवरें न जाने कहाँ से आती और कहाँ चली जाती हैं ?

ऐसे लंबे-चौड़े और भारी पाट के दरमियान अगर टापू न हों तो इनकी कमी ही रह जाय। गोदावरी के टापू खूब प्रसिद्ध हैं। कई तो पुराने धर्म की तरह जहाँ-के-तहाँ स्थिर रूप होकर जमे हुए हैं। और कई एक कवि की प्रतिभा की तरह क्षण-क्षण भर में स्थल की नवीनता उत्पन्न कर लेते और नया-नया रूप

ग्रहण करते हैं। इन टापुओं में अनासक्त बगुलों को छोड़ और कौन रहने जाय? और जब बगुले चलते हैं तो वे उन पर अपने पैरों के गहरे निशान छोड़े बगैर और जगह कैसे जायँ? अपने धवल चरित्र का अनुकरण करनेवालों के लिए चरणचिन्हों द्वारा अगर वे दिशा-सूचन न करें तो बगुले ही कैसे?

नदी का किनारा यानी मनुष्य की कृतज्ञता का अखंड उत्सव। किनारे पर के सफेद महल और मंदिर और उनके ऊँचे-ऊँचे शिखर ही एक अखंड उपासना है। परंतु इतने ही से काव्य सम्पूर्ण नहीं हो जाता। इसलिए भक्त लोग नदी की लहरों पर से मंदिरों के घंटानाद की लहरों को इस पार से उस पार तक पहुँचाते रहते हैं। संस्कृति के उपासक भारतवासी इसी जगह गंगा-जल के आधे कलश गोदावरी में उँडेलते और फिर गोदावरी के जल से कलश भरकर ले जाते हैं। कितनी भव्य विधि है! कितना पवित्र काव्य है! यह भक्ति-रव तो हृदय-हृदय में भरा हुआ है। और मंदिरों के घंटानाद और इस हृदयनाद को तो पूर्व स्मृति ने ही सुनाया। कानों को तो सिर्फ ऐंजिन का आवाज ही सुनाई पड़ रही थी। अगर हम आधुनिक संस्कृति के इस प्रतिनिधि से नफ़रत करना छोड़ दें तो रेल के पहिये का ताल कुछ कम आकर्षक नहीं लगता और पुल पर तो उसका विजयनाद संक्रामक—दूर-दूर तक फैल जानेवाला—होकर ही रहता है।

पुल पर गाड़ी अच्छी तरह चलने के बाद मुझे खयाल आया कि पूरब की तरफ देखना तो छूट गया। हमने इस तरफ घूम कर देखा तो वहाँ निराली ही रौनक नजर आई। पश्चिम तरफ़ गोदावरी जितनी चौड़ी थी, उससे भी कहीं ज्यादा पूरब में थी। उसे अनेक मार्गों से और उत्तेजित होकर समुद्र में मिलना था। सरित्पति से सरिता मिलने जाय, तब उसे संभ्रम—घबराहट और उत्तेजना तो होगी ही। पर गोदावरी तो धीरोदात्त माता ही ठहरी। उसका संभ्रम भी उदात्त रूप में ही प्रकट हो सकता है। इस ओर के टापू कुछ और ही किस्म के थे। उनमें वनश्री की शोभा पूरी-पूरी खिल रही थी। ब्राह्मणों या किसानों के झोंपड़े इस ओर से दिखाई नहीं पड़ते थे। अगर बहते हुए पानी के हमले के सामने टक्कर लेते इन दो टापुओं में किसी ने ऊँचे महल बनाये होते तो वे दूर से ही दीख पड़ते। कुदरत ने तो सिर्फ ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की विजय-पताकायें खड़ी कर रक्खी थीं। और बाईं ओर राजमहेन्द्री और धवलेश्वर का सुखी जन-समाज आनन्द मना रहा था। ऐसे दुर्लभ दृश्य के दर्शन से तृप्त होने से पहले ही दाहिनी ओर नदी के किनारे से सटकर मस्ती और अल्हड़पन के साथ बहते हुए कास की सफद कलगियों का स्थावर प्रवाह दूर-दूर तक जाता हुआ नजर आ रहा था। नदी के पानी में उन्माद था, उसमें लहरें न थीं, कलगियों के इस प्रवाह ने हवा के साथ जो षड्यंत्र रचा था, उससे वह मनमानी ऊँची हिलोरें उछाल

सकता था। जहाँ तक दृष्टि दौड़ सकती थी वहाँ तक देखा, और दृष्टि की पहुँच यहाँ कम ही क्यों हो? लेकिन कास की कलगियों का प्रवाह तो बहता ही जा रहा था। गोदावरी के प्रवाह के साथ होड़ करते हुए भी उसे संकोच न होता था। और वह संकोच क्यों करे? गोदावरी माता के विशाल तट पर इसने क्या कम स्तन्यपान किया था?

माता गोदावरी! राम, लक्ष्मण और सीता से लेकर बूढ़े जटायु तक सबको तूने ही स्तन्य-पान कराया है। तेरे तट पर शूरवीर भी पैदा हुए हैं और बड़े-बड़े तत्वज्ञानी भी; संतसाधु भी जन्मे और धुरंधर राजनीतिज्ञ भी पैदा हुए। देशभक्त पैदा हुए और ईश्वरभक्त भी। चारों वर्णों की तू माता है। मेरे पूर्वजों की तू अधिष्ठात्री देवता है। नई-नई आशाओं को लेकर मैं तेरे दर्शन को आया हूँ। दर्शन से तो कृतार्थ हो गया हूँ; पर आशाएँ अभी तृप्त नहीं हुईं। जिस प्रकार तेरे किनारे श्रीरामचन्द्र ने दुष्ट रावण के नाश का संकल्प किया था, वैसा ही संकल्प कब से मैं किए हुए हूँ। तेरी कृपा होगी तो हृदय में से रावण का राज्य मिट जायगा। राम-राज्य की स्थापना होते देखूँगा, और फिर तेरे दर्शन के लिए आऊँगा। और कुछ नहीं तो कास की कलगी के प्रवाह की तरह तू मुझे उन्मत्त बना देना, जिससे बिना संकोच के एक ध्यान लगाकर माता की सेवा में निरत रह सकूँ और बाकी सब कुछ भूल जाऊँ। तेरे जल में अमोघ शक्ति है, तेरे पानी की एक बूँद का सेवन भी व्यर्थ नहीं जाता।

ताज

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्य-जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पीकर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है, तब उसका हृदय तड़पने लगता है। भविष्य में आनेवाले अंत के तथा उसके अनंतर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, सर्वस्व के विनष्ट होने के विचार-मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार वह इस अप्रिय सत्य को भूल जाय और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही के लिए, कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किंतु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृति-चिह्न आदि सब कुछ बह जायँगे; इस संसार में तब उनके सांसारिक-जीवन का चिह्न-मात्र

भी न रहेगा और उनको याद करनेवाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ—अमिट स्मृतियाँ—छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अन्त अवश्यम्भावी है, किन्तु सोचते हैं कि सम्भव है उनकी स्मृतियाँ संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिंक्स, बड़े-बड़े मकबरे, कीर्तिस्तम्भ, कीलियाँ, विजयद्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी, अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये, किसी ने एक मार्ग का अवलम्बन किया, किसी ने दूसरे का। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के ऐसे प्रयत्नों के खँडहर आज भी सारे संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक-भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हँसते हैं तथा रोते हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परन्तु यह देखकर कि अभी तक मनुष्य अपनी विफलता को नहीं जान पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है, मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है, वे मूक-भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देनेवाला अट्टहास करते हैं।

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति

है। यद्यपि समय के सामने किसी की नहीं चलती, तथापि कई एक मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया है, उन्होंने ऐसी चालें चली हैं कि वे समय के उस प्रलयकारी भीषण प्रवाह को रोकने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने समय को अनुपम सौन्दर्य के अदृश्य पाश में बाँध डाला, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखा कर लुभाया है; यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति को ही नहीं, किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिर-स्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव-मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है।

× × × ×

वह अन्धकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अन्धकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह सितारा, भारत-सम्राट् के हृदय-कुमुद का वह चाँद आज सर्वदा के लिए नष्ट होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। अन्तिम घड़ियाँ थीं। उन सुखमय दिनों का, प्रेम तथा सुख से पूर्ण छलकते हुए उस काल का, अब अन्त होने वाला था। संसार कितना अचिर-स्थायी है !

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग, बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किन्तु अकाल काल का झोंका आया। वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे धीरे प्रकाश कम हो रहा था; दुर्दिन

की काली घटाएँ उस अँधेरी रात्रि के अन्धकार को अधिक कालिमामय बना रही थीं; आशा प्रकाश की अन्तिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अन्धकार में विलीन हो रही थीं। और तब...सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक यात्रा की अपनी सहचरी प्राण-प्रिया से अन्तिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देखकर पुनः एक बार लौ बढ़ी; बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अन्तिम मिलाप था। उन अन्तिम घड़ियों में, उन आँखों द्वारा क्या क्या मौनालाप हुआ होगा, उन दोनों प्रेमियों के हृदयों में कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था, देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत-सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बैठा किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा होने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमङ्गों पर, पाला पड़ रहा था। क्या-क्या आशाएँ थीं, क्या-क्या अरमान थे? जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी, तभी एकाएक शाहजहाँ को उसकी जीवन-सङ्गिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला

ओठों को लगाया कि वह प्याला गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृष्ट हो गई।

हाय ! अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन का एक-मात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़ कर चल बसा। भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा के लिए इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहाँ का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी कहते हैं कि इस जीवन का सङ्ग तथा वियोग क्या है, एक प्रवाह में साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने के समान है। परन्तु क्या ये विचार एक सन्तप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं ? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान कर सकती हैं ? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ, सांसारिक जीवन-संग्राम का एक तटस्थ दर्शक भले ही कुछ भी कहे, किन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, सांसारिक घटनाओं के कठोर थपेड़े खाते हुए, हृदयों की क्या दशा होती है, वह एक भुक्तभोगी ही कह सकता है।

× × × ×

वह चली गई, सर्वदा के लिए चली गई। अपने रोते हुए

प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने बिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुखी संसार को छोड़ कर, उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस सन्तप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुन्दर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया; अगर कुछ शेष रहा तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति तथा उस स्मृति पर, उसके उस चिर-वियोग पर, आहें तथा आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्ति, मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई। और उस मूर्ति के वे भग्नावशेष! जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अञ्चल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकल कर वे इस बाह्य जगत् में आये थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठंढे झोंकों के थपेड़े खाकर उन्होंने एक ऐसा सुन्दर स्वरूप धारण किया कि आज भी न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाये गये शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गये।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किन्तु अब भी कुछ आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी मृत्यून्मुख प्रियतमा के प्रति उस अन्तिम भेंट के समय किये गये अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने

सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं, संसार के उस चाँद की उन शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी कब्र बनावे कि वह संसार के मकबरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध शुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे-धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उस पर सफेद सङ्गमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाए गए जो बेतार के तार से, चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं तथा उसका यशोगान करते हैं। मध्य में शनैः-शनैः मकबरा उठा। यह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौंदर्य में अनुपम तथा अद्वितीय था। अन्त में उस मकबरे को एक अतीव सुन्दर किन्तु महान् गुम्बज का ताज पहनाया गया।

पाठको! उस सुन्दर मकबरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा नहीं कर सकती, फिर बेचारी जड़ लेखनी का क्या कहना? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुन्दर कला तथा महान् समाधि के निर्माण-कर्ता भी समय के इस अनन्त गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गये; परन्तु आज भी वह मकबरा खड़ा हुआ, अपने सौन्दर्य से संसार को लुभा रहा है। वह शाहजहाँ की उस महान् साधना

का, अपनी प्रेमिका के प्रति अनन्य तथा अगाध प्रेम का, फल है। वह कितना सुन्दर है ? आँखें ही देख सकती हैं, हृदय ही उसकी सुन्दरता का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुन्दरता को देख कर स्तब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृत प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अञ्जलि अर्पण की तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की इस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवा कर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

× × ×

बरसों के परिश्रम के बाद अन्त में मुमताज का वह मकबरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। जब इस मकबरे के पूर्ण होने पर शाहजहाँ पूरे समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिए वह दिन कितना गौरवपूर्ण हुआ होगा! इतिहासकारों ने उस दिन का—भारत की ही नहीं, संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन कहीं नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मकबरे के—संसार की उस महान् कृति के—दर्शनार्थ एकत्र हुए होंगे ? उस दिन मकबरे को देखकर भिन्न-भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे ? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देखकर गौरव का अनुभव किया

होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिये संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले; कई एक उस मकबरे की छवि को देख कर मुग्ध हो गये होंगे; न जाने कितने चित्रकार उस सुन्दर कृति को अङ्कित करने के लिए ही दौड़ पड़े होंगे; न जाने कितने कवियों के मस्तिष्कों में क्या-क्या अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था, जिसके हृदय में भिन्न-भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं, जो वाह्य सुन्दरता को चीरती हुई, एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आखें थीं शाहजहाँ की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा, उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, सो वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय में शान्ति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किये गये अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का भी अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र—अपनी उस जीवन-सङ्गिनी की यादगार—ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किन्तु उस जीवित मुमताज के स्थान पर, अपनी जीवन-सङ्गिनी की शुष्क हड्डियों पर यह कब्र—वह कब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में जलती हुई चिरवियोग की अग्नि क्या शान्त हो गई होगी? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह सुन्दर मकबरा मुमताज की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर

सकता था ? मकबरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जग उठी होंगी और पुनः चोट खाये हुए उस हृदय के वे पुराने घाव हरे हो गये होंगे।

पाठको ! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाये बिना नहीं रह सकते, तब आप ही स्वयं विचार कर सकते हैं कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे-सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुखपूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया और ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुन्दरता-पूर्ण तेजोमयी लपटों का एक घनीभूत सुन्दर पुञ्ज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

× × × ×

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी वह उस सुन्दर सुम्मन बुर्ज में शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घण्टों उसे निहारा करते हैं। न जाने कितने उस उद्यान में बैठे प्रेमपूर्ण

जीवन के नष्ट होने की उस स्मृति पर, अचिरस्थायी मानव-जीवन की उस करुण-कथा पर, रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर-दूर देशों से बड़े-बड़े भयङ्कर समुद्र पार कर उस समाधि को देखने के लिए खिंचे चले आते हैं। वे कितनी उमङ्गों से आते हैं, और उसासें भरते हुए ही चले जाते हैं। कितने हर्ष से आते हैं, किन्तु दो आँसू बहाकर ही जाते हैं। प्रकृति भी प्रति वर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भङ्ग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्य-जीवन की—मनुष्य के उस दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम-बन्धन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति—उसकी अतृप्त वासनाओं तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि—आज भी युमना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह साम्राज्य, उसका वह तख्त-ताऊस, उसका वह महान् घराना, शाही जमाने का वह गौरव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़कर वे सब आज नष्ट हो गये। ताजमहल का वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे रत्न भी न जाने कहाँ चले गये, किंतु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है और यों मानव-जीवन की उस करुण-कथा को चिरस्थायी बनाये हुए है। वैभव-विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है—"मैं भूला

नहीं हूँ।" आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुंदर सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की उस करुणा-कथा को देख, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई उस भग्न मानव-जीवन की करुणा-कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की कथा याद कर कभी-कभी यमुना का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके हृदय में भी आँसुओं की बाढ़ आ जाती है।

उन श्वेत पत्थरों से आवाज़ आती है—"आज भी मुझे उस की स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का, जो अकाल में ही डंठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों में रम रहा है। वह टूटा हुआ पुष्प सूख गया, परंतु उस सुंदर पुष्प की आत्मा विलीन हो गई, अनंत में अन्तर्हित हो गई। अपने अनंत के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़कर चली गई; केवल पत्थर की उस सुंदर किंतु त्यक्त समाधि में उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने उस निराकार मृत्यु को अक्षय सौंदर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की उस धधकती हुई अग्नि को चिरस्थायी बनाया।

भारतीय इतिहास में सांप्रदायिक विष

इतिहास की शिक्षा प्रत्येक राष्ट्र के जीवन की एक आवश्यक प्रक्रिया है। क्योंकि अपने इतिहास की स्मृति ही राष्ट्र की आत्मानुभूति है। अपने पुरखों को अपना समझ कर याद करना और उनकी चरित-चर्चा में जी का लगना—राष्ट्रीय चैतन्य का ९० फ़ी सदी यही तो है। "न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्"—पूर्वजों के महान चरित को सुनता हुआ मैं नहीं अघाता—महाभारतकार ने ये शब्द जनमेजय के मुँह से कहलाये हैं, पर इनमें जीवित राष्ट्रों के प्रत्येक बच्चे के दिल की सच्ची तस्वीर खींची है। यह कोई व्यामोह नहीं है, मिथ्याभिमान नहीं है, यह स्वस्थ मानव मन की सर्वथा सहज प्रवृत्ति है। क्योंकि, जैसा कि सर यदुनाथ सरकार ने कहा है, "हम (अपने) ऐतिहासिक अतीत के जीवित अवतार हैं; वह अतीत हमारे खून और हमारी हड्डियों में, हमारे विचार और विश्वास में व्याप्त है।" उसके लिए खिंचाव न अनुभव करना ही बीमारी का चिह्न है। वह राष्ट्रप्राणी के जीवन में वैसी ही बीमारी है जैसी किसी शोकोन्माद के रोगी का अपने जीवन से ऊबे रहना।

आज संसार के अनेक राष्ट्रों में अपने पूर्वचरित के लिए इस खिंचाव का अर्थ हो गया है अपने पड़ोसी राष्ट्र के पूर्वचरित से घृणा करना। इतिहास इस प्रकार लिखे जाते हैं और बच्चों को इस प्रकार पढ़ाये जाते हैं कि जिससे जहाँ उनके मन में अपने राष्ट्र के लिए उत्कट प्रेम जागे, वहाँ पड़ोसी के लिए उत्कट घृणा भी भड़क उठे। इसी से इतिहास की शिक्षा एक अन्तराष्ट्रीय समस्या हो गई है।

परन्तु हमारे भारत की समस्या बिलकुल दूसरी ही है। यहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवादी लेखकों ने काल को भी फ़िरकेवार बाँटने की कोशिश की है! और उनके अन्ध अनुयायियों ने इस बँटवारे को सनातन सत्य मान रक्खा है। इतना ही नही। जिस रूप में हमारे बच्चों को इतिहास पढ़ाया जा रहा है उसका फल यह है कि हिन्दू आज भी महमूद की बुतशिकनी को या औरंगज़ेब की अदूरदर्शिता को माफ़ करना नहीं चाहता और मुसलमान आज भी प्रताप या शिवाजी के "विद्रोह" को दिल से भूलने को तैयार नहीं होता। हिन्दू को "हिन्दू इतिहास" ही अपना जान पड़ता है और मुसलमान को प्राचीन भारत के नाम भी ज़बान पर चढ़ाना दूभर लगता है; उसे शाम, फ़िलिस्तीन और आफ्रिका में "इस्लामिक" इतिहास" की सरणि अधिक रुचिकर लगती है। अपने पुरखों की स्मृति का भी हम उसी प्रकार बँटवारा करना चाहते हैं जैसे झगड़ालू भाइयों ने विरासत में मिली दासी का किया था!

इस मनःस्थिति का परिणाम यह है कि ५-६ बरस की आयु से ही हमारे बच्चों की शिक्षा के रास्ते अलग अलग हो जाते हैं

और तभी से उनके मनों में पारस्परिक घृणा के बीज बोये जाने लगते हैं। यों सांप्रदायिक द्वेष का विष हमारी राष्ट्रीयता के पेड़ को जड़ तक मारे जा रहा है।

सांप्रदायिक रंग में इतिहास का जो चित्र खींचा गया है, वह वस्तुतः असत्य पर निर्भर और असत्यमय है। हमारी अकर्मण्यता और उपेक्षा ने साम्राज्यवादियों को वह मौका दे दिया जिससे सांप्रदायिक रंग की धूल उड़ा कर वे हमें गुमराह किये हुए हैं। और उस रंग का नशा इतना मोहक बन गया है कि हम में से अनेकों का अब उसे छोड़ने को जी नहीं करता। दूसरे, आलस्य और अकर्मण्यता की थपकियाँ हमें मीठी नींद सुलाये हुए हैं; और बने हुए रास्ते को तोड़ कर नया बनाने की मेहनत हमें दूभर लगती है। अप्रिय सत्य को सुनना और मान लेना तथा अपने पुराने पोषित विचारों को त्याग देना रुचिकर नहीं होता। हमारे युग के महान् नेता ने राजनीति को भी सत्य और अहिंसा के रास्ते पर चलाना चाहा है। लेकिन सत्य के रास्ते पर सदा गुलाब नहीं बिछे रहते। अहिंसा का दूसरा नाम सहिष्णुता है। सत्य की रोशनी और सहिष्णुता का पानी लेकर यदि हम इतिहास के पथ को साफ करने का श्रम कर सकें तो सांप्रदायिक विष की धूल बहुत जल्द बैठ जाय।

महमूद गज़नवी हमारे इतिहास में एक ऐसा चरित्र है जिसकी स्मृति आज भी उत्तेजनाजनक समझी जाती है। उसके जीवन का कार्य हिन्दू राज्यों को लूटना और मन्दिरों को तोड़ना बताया गया

है। महमूद अफ़गानिस्तान के लिए, जो कि इतिहास में भारतवर्ष का एक प्रान्त रहा है, एक विदेशी था। विदेशी आक्रान्ता के रूप में उसने अफ़गानिस्तान पंजाब और सिन्ध को जीता। राजनीतिक नक्शे पर जब हम उसके इतिहास की घटनाओं को अंकित करते हैं तो वह निरा लुटेरा नहीं निकलता। उसकी चढ़ाइयों में एक स्पष्ट योजना है, और वह अपने साम्राज्य को क्रमशः बढ़ाता है। कलमे के संस्कृत अनुवाद वाले उसके सिक्के मिले हैं, जिनके लेख का पाठोद्धार हमारे विद्वान् स्वागताध्यक्ष रायबहादुर काशीनाथ ना० दीक्षित ने किया है। उन पर 'ला-इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूल-इल्लाह' का अनुवाद किया गया है 'अव्यक्तमेकम् मुहम्मद अवतार'। प्रकट है कि इस्लाम के अल्लाह और वेदान्त के अव्यक्त की एकता पहचान ली गई थी, और रसूल और अवतार की कल्पनायें भी एक हैं यह समझ लिया गया था। क्या यह हिन्दुत्व और इस्लाम के समन्वय का--इस्लाम के भारतीय बनने का--आरम्भ नहीं है?

मन्दिर तोड़ने की बात विचारणीय है।, मध्यकाल में भारत-वासियों की विचार-प्रगति रुक जाती है, और ज्ञान संस्कृति राज-नीति आदि किसी भी दिशा में आगे बढ़ना वे छोड़ देते हैं। परि-णाम यह होता है कि अपनी फालतू पूंजी का कोई नया उपयोग उन्हें नहीं सूझ पड़ता। देश समृद्ध था, और मन्दिर-रचना की कला में ही उसकी सब फालतू पूँजी लग रही थी। वह कला भी अवनति-मुख थी, सुन्दर कल्पना का स्थान उसमें आभूषण ले रहा था। मन्दिर देश में उचित से कहीं अधिक बन रहे थे; उनमें देश की

लक्ष्मी संचित होती थी, किन्तु उस लक्ष्मी की रक्षा करने की शक्ति उसके मालिकों में क्रमशः क्षीण हो रही थी। इस दशा में किसी न किसी राजपरिवर्त्तन में उनका लुटना अवश्यंभावी था। महमूद से सौ बरस आगे पीछे दो हिन्दू राजा हुए जिनमें से एक ने मन्दिरों की जायदादें जब्त कीं, और दूसरे ने एक 'देवोत्पाटन-नायक' (मन्दिर उखाड़ने वाला अफ़सर) नियुक्त किया। इस नायक का काम था मन्दिरों को चुपके से भ्रष्ट करा देना और बाद में ज़ब्त कर लेना। इस प्रकार मन्दिरों का बहुत बनना और पीछे टूटना केवल आर्थिक और सामाजिक इतिहास की दो करवटें मात्र थीं। उन्हीं आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियों से महमूद की फालतू पूँजी से गज़नी में महल और मस्जिदें बनीं और उनकी भी गोरियों के हाथ वही गति हुई जो महमूद के हाथ सोमनाथ की हुई थी।

और यदि महमूद न आता, यदि कोई और क्रान्ति भी न होती, तो भी क्या वे मन्दिर बचे रहते? हिन्दुओं की जिस निद्रालुता के कारण वे सरहद्दी लुटेरों से न बच सके, क्या उसके रहते वे घास और दीमक से बच सकते? क्या जनता की पीठ उन्हें बनाये रखने का बोझा ढोती रह सकती? हम यह भूल जाते हैं कि पुराने मन्दिरों के नष्ट होने का सबसे बड़ा कारण यही है। आज चित्तौड़ में जाकर देखिए; राजा भोज के मन्दिर से चमगादड़ों की गन्ध कैसे दूर तक उड़ती है! जहाँ हैदराबाद में अजन्ता के एक एक चित्र को बचाने को कोई उपाय बाकी नहीं छोड़ा जाता, जहाँ भोपाल दरबार सांची के स्तूप को अपने महलों की तरह झकाझक

रखता है, वहाँ चित्तौड़ में सुन्दर कला के अनोखे नमूने ईंटों के मलबे में दबे नष्ट हो रहे हैं, और उदयपुर संग्रहालय में दीवारों के सहारे पड़े शिलालेखों पर भी दीवारों के साथ ही सफेदी पोत दी जाती है ! आज बिहार के किसानों से पूछिए। क्या उनकी पीठें अपने मन्दिरों और मस्जिदों की ज़मींदारियों का बोझा आराम से ढो रही हैं ? आर्थिक प्रवृत्ति क्या आज फिर एक करवट बदलने वाली नहीं है ?

अधपढ़ पंडितों की एक और पुकार प्रसिद्ध है—मुसलमानों ने मन्दिर तोड़ तोड़ कर हिन्दू कला को नष्ट कर दिया ! वे यह नहीं जानते कि हिन्दू कला का दम जब बँधी परिपाटी की बेहूदगियों, बाह्य भूषा की बारीकियों और ऊँची कल्पना के अभाव से घुट रहा था, तब इस्लाम ने नई कल्पना देकर उसके आत्मा को बचा लिया। जौनपुर, पांडुआ, मांडू और अहमदाबाद में कला के जो नमूने इस युग के मिलते हैं, उन्हें मुस्लिम कला कहना फ़िज़ूल और भ्रम-जनक है। वह भारतीय कला का केवल एक नया पहलू है। वे उन्हीं पुराने कारीगरों की कृतियाँ हैं; अहमदाबाद की मस्जिदों में तो वही पुराने कमल आदि के संकेत भी मौजूद हैं। लेकिन उस कारीगरी में इस्लाम ने एक नई जान फूँक दी है। मेरे कहने का कोई सांप्रदायिक मुस्लिम यह अर्थ न लगा लें कि इस्लाम में कला को उज्जीवित करने की कोई त्रैकालिक शक्ति है। उस युग में थी, आज बुझ चुकी है। इतिहास की कोई उपज सनातन नहीं हो सकती। हमें, सदा प्रगतिशील होना चाहिए, किसी भी वाद को

हम सनातन सत्य मानकर चिपटे रहेंगे तो पिछड़ जायेंगे, यही इतिहास की शिक्षा है।

महमूद के बाद शहाबुद्दीन गोरी ने मुस्लिम राज को पंजाब से सारे उत्तर भारत तक पहुँचा दिया। गोरी के नागरी सिक्के काफ़ी तादाद में मौजूद हैं जिनपर लक्ष्मी या वृषभ की मूर्त्तियाँ अंकित हैं। यदि शहाबुद्दीन गोरी का उद्देश इस्लाम को फैलाना ही था तो इन सिक्कों का अर्थ क्या है?

ग़ोरी ने अजमेर और कन्नौज के हिन्दू राज्य दहपट कर दिये, पर ग़ोरी न आता तो उनकी क्या दशा होती? चेदि के उदाहरण से हम अन्दाज़ कर सकते हैं। चेदि का राज्य ११वीं-१२वीं शतियों में बड़ा समुन्नत और समृद्ध था, उसकी राजधानी त्रिपुरी थी जहाँ हमारी कांग्रेस का अगला अधिवेशन होने जा रहा है। उस राज्य पर कोई मुस्लिम हमला नहीं हुआ, पर १३वीं शती के शुरू में वह आपसे आप टूट जाता है, केन्द्र की राजशक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है और जगह जगह लोग सिर उठा लेते हैं। ऐसी दशा में अनेक मन्दिरों का धन भी क्या स्थानीय लुटेरों के हाथ न पड़ा होगा?

जावा का बिल्वतिक्त साम्राज्य बृहत्तर भारत का अन्तिम हिन्दू राज्य था जिसे रानी जयविष्णुवर्धिनी की महात्वाकांक्षा ने साम्राज्य का रूप दे दिया था। यह समझा जाता था कि उसे मुसलमानों की कृतघ्नता ने नष्ट किया; पर अभिलेखों से अब यह सिद्ध हुआ है कि वह भी इसी प्रकार आपसे आप टूटा और उसके बाद मुस्लिम राज्य वहाँ स्थापित हुआ।

महाराणा कुंभा के अभिलेख में यह बात दर्ज है कि उसने नागोरी की मस्जिद को ज़मींदोज़ कर दिया। क्या कुंभा इस्लाम का शत्रु था ? अपने पड़ोस के दो मुस्लिम राज्यों को परास्त करने के बाद उसने चित्तौड़ में कीर्तिस्तंभ बनाया। उसमें जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश की मूर्तियाँ हैं, वहीं उनके साथ पत्थर में 'अल्लाह अल्लाह' भी खोदा गया है। क्या इससे सूचित नहीं है कि उसने अपने राज में इस्लाम को स्थान दिया था ? तब दोनों बातों का समन्वय कैसे है ? समन्वय यह है कि नागोर के उच्छृंखल सामन्त के दमन के लिए उसे अधिक से अधिक कड़ाई दिखाने की ज़रूरत थी, और एक बार यह बता देना आवश्यक था, कि राजनीतिक ज़रूरत होने पर वह कहाँ तक जा सकता था, और मस्जिद में भी कोई जादू न था। सिक्ख इतिहास की कई परस्पर-विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियों की भी यही व्याख्या है।

औरंगज़ेब की बहक के लिए क्या आज केवल हिन्दुओं को खेद होना चाहिए ? क्या आज के भारतीय मुसलमान उसकी करनी की याद से भीतर भीतर खुश होते हैं ? उसके अपने समय में उसके श्वसुर ने उसका प्रतिवाद किया, उससे लड़ा और मारा गया, उसकी बेटी और बेटों ने कैद और निर्वासन के कष्ट उठाये। वे सभी उसके अकबर की नीति को छोड़ देने को ग़लत मानते थे। जिस समय भारत के तट के पास हाजी जहाज़ों की दौलत और सैयद स्त्रियों की इज्ज़त अंग्रेज़ डाकुओं के हाथ लूटी जा रही थी उसी समय औरंगज़ेब का हिन्दुओं से लड़ने में साम्राज्य की

शक्ति नष्ट करना क्या ऐसा काम था जिससे किसी मुसलमान को खुशी हो सकती है ? अगर होती है तो वह निरी जड़ता है।

और उसकी अदूरदर्शिता के बारे में हम चाहे जो कहें, उसके अदम्य संकल्प, उसकी तत्पर कर्त्तव्यनिष्ठा, उसकी सजग सचेष्टता, उसकी अथक शक्ति और उसकी निष्कलंक सच्चरित्रता की तारीफ़ क्या मुसलमानों के साथ साथ हिन्दू भी नहीं कर सकते ? हमारे बच्चे दृढ़ चरित्र के उस नमूने को भूल जायँ और तीसमारखाँ दाराशिकोह का नाम रटा करें, इससे कोई नैतिक लाभ नहीं हो सकता।

औरंगज़ेब की तरह बालाजीराव पेशवा की अदूरदर्शिता के लिए भी आज हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ खेद कर सकते हैं। अंग्रेज़ जब बंगाल और तामिलनाड में मराठों के मुँह का कौर छीनते जा रहे हैं, अब्दाली और नजीब जब उससे समझौता करने की मिन्नत कर रहे हैं, तब भी वह पंजाब वापस लेने की ज़िद नहीं छोड़ता। अब्दाली की एक चढ़ाई से लाभ उठा कर क्लाइव बंगाल जीत लेता है; उसकी दूसरी लड़ाई में मराठों को फँसा देख कर कूट तामिलनाड पर एकाधिपत्य कर लेता है। मराठों और रुहेलों के परस्पर लड़ते रहने से भारत की आधुनिक गुलामी का आरंभ होता है।

किन्तु जहाँ हमें इस अदूरदर्शिता के लिए खेद होता है, वहाँ हम यह भी नहीं भूल सकते कि कावेरी से चनाब तक और कटक से काठियावाड़ तक भारत की एकता और स्वाधीनता के लिए इस युग में यदि कोई जान लड़ा रहा था तो वे मराठे ही थे।

और मराठों और रुहेलों से यह समझ की गलती चाहे जैसी हुई हो, पर जब वे लड़े तो मर्दों की तरह लड़े। जब उन्होंने परिस्थिति को समझा और अपनी गलती को पहचाना तो मर्दों की तरह खुले दिल से उस गलती का प्रायश्चित्त किया। आज की तुच्छ सांप्रदायिक किचकिच में, जो सन् १८५८ के बाद से साम्राज्यवादी शक्ति ने दोनों पन्थों के स्वार्थी या बहकने वाले लोगों को खरीद और बहका कर पैदा की है, अनेक बार कुछ कागज़ी पहलवान मराठों और रुहेलों की लड़ाई का स्वाँग किया करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जहाँ तक शिवाजी और बाजीराव के वंशजों का वास्ता है, वे अपनी गलती को अपने खून से धो गये। नानासाहब और अज़ीमुल्ला, लक्ष्मीबाई और हज़रतमहल, बख्तखाँ और तत्या टोपे का एक साथ अपनी आहुति देना, अहमदशाह को बचाने के लिए नाना का लपक कर पहुँचना और तात्या टोपे का साथ देने के लिए शाहजादे फीरोज़ का भाग कर आना, बहादुरशाह और बहादुरखाँ का गोवध बंद करने का फ़रमान निकालना, और जिन रुहेलों और अवध वालों से लड़ते रहने के कारण अपनी स्वाधीनता के नाश का बीज बोया गया था उन्हीं के देश में उनके लिए जान देते हुए पेशवा के अन्तिम वंशधर का अन्तर्धान होना—मराठा नाटक का यह अन्तिम पटाक्षेप क्या हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष का संदेश देता है ?

सत्य की तलवार और सहिष्णुता की ढाल लेकर यदि हम अपने इतिहास के गहन पथ में उतरते हैं तो हमें कहीं भी द्वेष के भूत

नहीं दिखाई देते। वे तभी उमड़ने लगते हैं जब सत्य को छिपाया जाता है। प्राचीन भारत के विषय में विद्वानों ने जो सत्य खोज निकाले हैं हमारे 'सयानों' का इशारा यह रहता है कि उन्हें बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में न लिखा जाय ।

पीपल की डालों के लिए आज कितनी परेशानी होती है ! सत्य यह है कि प्राचीन हिन्दू अपने यज्ञों के लिए पीपल की समिधा ख़ास तौर से काट कर जलाते थे। जब गया का एक पीपल बोधि वृक्ष बन गया तब से पीपल की इज़्ज़त बढ़ गई। और जब राजा शशांक ने उस बोधि वृक्ष को उखाड़ फेंका, शायद उसके बाद से ही उसकी शहादत की याद में उसकी समूची बिरादरी अवध्य करार दी गई। गोवध को लेकर आज हमारे देश में कितनी खूनख़राबी होती है ! ऐतिहासिक सत्य यह है कि पहले-पहल भारशिव या वाकावट युग से गोवध को पाप माना जाने लगा है। सांची स्तूप की वेदिका के एक खंभे पर तीसरी शताब्दी के अक्षरों में एक लेख है जिसमें पहले पहल हमें गोवध के पाप होने की बात मिलती है।

सच्ची नागरिकता

कुछ बड़े-बड़े लोगों के देश में पैदा हो जाने से ही देश बड़ा नहीं हो सकता। देश के बड़ा होने के लिए आवश्यक है कि हमारी साधारण जनता उन्नत हो अर्थात् हमारे छोटे से छोटे देशवासी अपने नागरिक-अधिकारों और कर्तव्यों को समझें और तदनुसार जीवन-निर्वाह करें। जहाँ तक अपने नागरिक-जीवन का संबंध है, वहाँ तक किसी श्रेणी अथवा जाति के भ्रम में न पड़ें। इसका सदा खयाल रखें कि देश सब का है, किसी एक व्यक्ति या समूह का नहीं, और एक की अकर्मण्यता अथवा अविवेक से बहुत बड़ी हानि हो सकती है और देश विविध अंगों में पुष्ट तभी रह सकता है, जब सब लोग अपना-अपना कार्य समुचित प्रकार से करें। थोड़े में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता कार्य-कुशल नागरिकों की है।

कार्य-कुशलता क्या है, और कार्य-कुशल व्यक्ति कौन है, इसकी हम यहाँ पर विवेचना कर लें। कार्य-कुशलता का पहला अंग तो यह है कि हम अपने कार्य को अच्छी तरह जानें। हम लोगों में से

अधिकतर लोग कार्य उठा तो लेते हैं, पर कार्य अच्छी तरह से जानते नहीं, और न जानने का यत्न ही करते हैं। जब सफलता नहीं मिलती तो अपने को दोष न देकर हम दूसरे को दोष देते हैं, अपना हृदय कलुषित करते हैं और बड़े संताप में जीवन व्यतीत करते हैं। छोटे-बड़े सभी कामों में यह देखा जाता है। साधारण तौर से शायद यह समझा जाय कि कि घास छीलना या झाड़ू देना बहुत सरल काम है। संभव है हम में से बहुत से लोग उसे हेय भी समझें, पर वे यदि इन कामों को आज़माने के लिए किसी वक्त करने की कोशिश करें, तो मालूम हो जाय कि यह कितना कठिन काम है और इसके लिए भी कितनी शिक्षा की आवश्यकता है। हम लोगों में से अधिकतर लोग जो काम करते हैं, उनकी एक-एक तफ़सील पर ध्यान नहीं देते और न उसमें पूरी तौर से योग्यता और निपुणता प्राप्त करने का यत्न करते हैं। इसी से हमारा कार्य खराब होता है, और हमारे हाथ से काम निकलते जाने का यही कारण है कि दूसरे लोग उसी काम को ज्यादा अच्छी तरह करते हैं और हम स्वयं उनके काम को अपने काम से ज़्यादा पसंद करने लगते हैं। यदि हम लोग अपने-अपने काम के एक-एक अंग को अच्छी तरह समझें और उसमें प्रवीण होने का सदा खयाल रखें, तो हम अपनी और अपने काम—दोनों—की बहुत कुछ वृद्धि और उन्नति कर सकते हैं। चाहे हम भंगी हों, दर्ज़ी हों, धोबी हों, चाहे हम दुकानदार, क्लर्क या शिक्षक हों, चाहे हम और किसी पद या ओहदे पर हों, हम सब के लिए अपने काम को अच्छी तरह

से जानना अत्यन्त आवश्यक है। हम में से अधिकतर लोग उसे अच्छी तरह नहीं जानते, इसी से हमारे सब कामों की इतनी हीनता और न्यूनता है। यदि हम सब अपने-अपने विविध कामों को अच्छी तरह से करें तो हम सब पर जो दीनता छाई रहती है, वह कम हो और जो उदासीनता, लापरवाही और अविवेक हम चारों तरफ़ देखते हैं, वह दूर हो। हम सब कार्य कुशल हो सकते हैं। कार्य-कुशलता छोटे और बड़े का भेद नहीं जानती। जो कार्य-कुशल होगा, वह चाहे आरंभ में कितना ही छोटा क्यों न हो, अवश्य उन्नति करेगा और जो नहीं होगा, वह आरंभ में चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, अवश्य गिरेगा। इस कारण कार्य-कुशलता का अंग है—अपने आप काम को अच्छी तरह से जानना।

कार्य-कुशल व्यक्ति अपने कार्य में बहुत गर्व अनुभव करता है। उसको इस बात का गर्व होता कि हम अमुक कार्य करते हैं और समाज के एक आवश्यक अंग की पूर्ति करते हैं, यदि हम न हों तो समाज नष्ट हो जाय। यदि आप विचार करें तो आप देखेंगे कि आज जिन लोगों का हम मान करते हैं वे वास्तव में समाज के लिए उतने जरूरी नहीं हैं, जितने वे लोग—जिनका आज अपमान होता है। आज समाज में बड़े-बड़े राज्याधिकारी, बड़े-बड़े वकील, बड़े-बड़े जमींदार, बड़े-बड़े व्यापारी आदि का बड़ा मान है। यदि ये न रहें तो समाज की कोई हानि न हो, संभव है लाभ ही हो। देहाती कहावत के अनुसार 'छोटे आदमी का काम बड़े आदमी

बिना चल सकता है, बड़े आदमी का काम छोटे बिना नहीं चल सकता।' हम सब जो छोटे हैं, उनको अपना महत्त्व समझना चाहिए। हम भंगियों, दर्जियों, धोबियों, छोटे-छोटे दुकानदारों, क्लर्कों, शिक्षकों को भी यह अनुभव करना चाहिए कि इस संसार चक्र को चलाते रहने में हम बहुत ज़रूरी भाग ले रहे हैं और समाज की तरफ से हमारा भी समुचित आदर और सम्मान होना चाहिए। जब तक भंगी, दर्ज़ी, धोबी यह समझते हैं कि हम तो केवल भंगी, दर्ज़ी, धोबी हैं, हमारा काम गंदा है, हमारी जाति छोटी है—तब तक उनका भाव भी कलुषित रहेगा। पर अगर भंगी यह अनुभव करे कि मेरे बिना सारा संसार गंदा रहेगा, यदि धोबी यह विचार करे कि मेरे बिना सारे संसार के कपड़े मैले कुचैले रह जायँगे, अगर दर्ज़ी यह जाने कि मेरे बिना सब लोग नंगे हो जायँगे, तो उनकी मनोवृत्ति, उनका दृष्टिकोण बदल जायगा, वे भी अपने कार्य में गर्व अनुभव करने लगेंगे, अपना महत्त्व समझेंगे, अपना काम अधिक उत्तमता से करेंगे और अपना समुचित स्थान समाज में प्राप्त करने का यत्न करेंगे। अतः कार्य-कुशल व्यक्ति की दूसरी विशेषता है कि वह अपने काम को अच्छा और बड़ा मानता है, उस पर गर्व करता है। कार्य-कुशल धोबी अपने हाथ के धुले साफ कपड़े से वही हर्ष और आनन्द प्राप्त करता है, जो कोई कवि अपनी कविता से, जो कोई योद्धा अपनी वीरता से, या कोई व्यापारी अपने ख़ज़ाने से।

कार्य-कुशलता का तीसरा अंग परिश्रम है। यह संसार परि-

श्रम का है। जो परिश्रम करने को तैयार नहीं है, वह कुछ नहीं कर सकता। सतत परिश्रम ही हमें आगे ले जा सकता है। सुस्ती पीछे ही ढकेलती जायगी। हम लोग अपने काम से बहुत जल्दी थक जाते हैं, परेशान होकर उसे छोड़ देते हैं, इस कारण हम उन्नति नहीं कर पाते। हम को धुन नहीं है, हम को लगन नहीं है, हम थोड़े में बहुत चाहते हैं, न मिलने पर रुष्ट हो जाते हैं। इस परिश्रम की ही कमी से हम अपना काम ठीक तरह नहीं करते। चौबीस घंटा कुछ कम समय नहीं है। इसमें से अधिक का हम अपव्यय कर देते हैं। संसार के बड़े-बड़े कार्य करने वालों को भी चौबीस ही घंटे मिले हैं, पर वे तो इतने में ही इतना काम कर लेते हैं, जितना हम साधारण लोग हफ्तों और महीनों में नहीं कर पाते। सतत परिश्रम ही प्रकृति का नियम है। जो इस नियम का पालन नहीं करेगा, वह कष्ट पायगा। हमारा कार्य-कुशल नागरिक अपने कार्य को जानने वाला, उस कार्य पर गर्व करने वाला, उस कार्य को करते रहने में यथा संभव परिश्रम करने वाला व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति की हमारे समाज के प्रत्येक अंग में कमी है। उसकी प्रत्येक अंग में आवश्यकता है। यदि हमारी औसत जनता ऐसी कार्य-कुशल हो जाय, तो तीन-चौथाई हमारे मसले बात की बात में हल हो जायँ, देश की दशा एकाएक बदल जाय और जो ग्लानि हम चारों तरफ देख रहे हैं, वह दूर हो जाय।

ऐसे कार्य-कुशल व्यक्ति न स्वयं अस्पृश्य होते हैं, न किसी को अस्पृश्य मानते हैं। ऐसे व्यक्ति सर्वथा विश्वासपात्र होते हैं और

उनकी यही कामना रहती है कि सब लोग विश्वासपात्र हों। ये बातें बहुत छोटी हैं, पर बहुत मुशकिल हैं। आदमी की परख उसकी बड़ी-बड़ी बातों से उतनी नहीं होती जितनी उसकी छोटी-छोटी बातों से। हम छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा भले ही करें, पर वे ही वास्तव में आगे चल कर बड़ी हो जाती हैं। छोटा-सा छेद बड़े से बड़े जहाज को डुबा देता है, छोटी-सी फुंसी बड़े से बड़े पहलवान को मार डाल सकती है। छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा न कीजिए, ये बड़ी से बड़ी बातों से बड़ी है। हम लोगों में अस्पृश्यता का रोग घुसा हुआ है। अस्पृश्यता शब्द विशेष अर्थ में प्रयोग होने लगा है। पर विचार कर यदि हम देखें तो हमें मालूम होगा कि यह रोग सब को व्याप्त किए हुए है। हम सब ही एक दूसरे के प्रति अस्पृश्य हैं। देश के कितने ही प्रांतों में छुआछूत का रोग इतना व्याप्त है कि कोई भी किसी दूसरे को छू नहीं सकता, उसका छुआ भोजन खा नहीं सकता। एक ही घर के प्राणियों में भी यह व्यवहार पाया जाता है। पर यह अस्पृश्यता केवल भोजन अथवा विवाह के ही क्षेत्र है सीमा-बद्ध नहीं है। हर जगह यह देख पड़ती है, जिसके कारण सब लोग सबसे पृथक् हो गए हैं, परस्पर के राग-द्वेष की मात्रा बहुत बढ़ गई है, प्रत्येक व्यक्ति सभी को छोटे-बड़े की तराजू में तौला करता है और दूसरों को नीचा दिखाने के यत्न में रहता है। कार्य-कुशल व्यक्ति सबको सम-दृष्टि से देखता है। वह सब का और सबके काम का आदर करता है, और वह आशा करता है कि उसकी तरफ़ भी लोगों का वही भाव रहेगा जो उसका

उनकी तरफ़ है। वह दूसरों की उतनी ही आवश्यकता अनुभव करता है, जितनी अपनी।

प्रकृति का अनिवार्य नियम है कि जिनको आप जैसा समझते हैं, वह आप को भी वैसा ही समझते हैं, यद्यपि आप इसे न जानते हों, या आपको जानकर आश्चर्य और क्रोध आवे। नागरिक के कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान अस्पृश्यतारूपी कलंक हम में से निकाल देगा और सच्चा-भ्रातृ भाव हमारे बीच में फैलाएगा। वह हमको बतलाएगा कि जो बात अपने को बुरी लगती है वही दूसरे को भी बुरी लगती है। वह हमें विवश करेगा कि जैसा व्यवहार हम दूसरों से चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार हम दूसरों के साथ करें। सब चीज़ें चाहती हैं कि हमारे साथ सद्व्यवहार किया जाय, चाहे वे जड़ हों—चाहे चेतन। सभी वस्तुएँ दुर्व्यवहार के कारण अपना बदला लेंगी। यदि भाई, नौकर, पड़ोसी आदि चेतन जीवों से आप दुर्व्यवहार करते हैं तो वे अपना बदला लेते ही हैं। अचेतन वस्तुएँ भी ऐसा ही करती हैं। जूते के साथ दुर्व्यवहार कीजिएगा, उसे साफ़ नहीं रखिएगा, तो वह काट लेगा। छाते की फ़िक्र न कीजिएगा, उससे लापराही के साथ पेश आइएगा, तो समय पर आप उसकी कमानी टूटी और कपड़ा फटा—अतः उसे बेकार पाइएगा। यदि सूई की फ़िक्र न रखिएगा तो बेवक्त वह आप के शरीर में चुभकर अपने अस्तित्व का प्रमाण आप को देगी। सबके साथ अच्छा और उचित व्यवहार कार्य-कुशल पुरुष सदा करता है, इस कारण वह अपनी सब वस्तुएँ सब समय

ठीक प्रकार से ठीक स्थान पर पाता है और सब चीजें उसकी सेवा करती हैं। उसका घर गंदा नहीं रहता। उसके कपड़े मैले नहीं रहते, वह सदा चिड़चिड़ाया हुआ, घबराया हुआ, दूसरों पर अपना दोष लगाता हुआ, परेशान नहीं पाया जाता। उसका शरीर, उसकी आत्मा, उसका मस्तिष्क, सब स्वस्थ, स्थिर और प्रसन्न रहते हैं इसी को सब को कामना है और यह कार्य-कुशलता से ही मिलती है।

परस्पर अस्पृश्य होने के साथ ही साथ हम लोग परस्पर विश्वास भी नहीं करते हैं, अर्थात् हम लोग छोटे-बड़े, सब छोटी बड़ी बातों में परस्पर विश्वास के योग्य व्यवहार नहीं करते। कोई जान बूझ कर हम मिथ्या आचरण करना चाहते नहीं, पर हमारा ऐसा अभ्यास हो गया है कि बिना विचार के हमने अपने को अविश्वास्य कर दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह आशा रखे कि उसके प्रति जो समुचित कर्त्तव्य दूसरों का है; वह उसका पालन करेंगे। जब हम सड़क पर चलते हैं तो हमें इसका अधिकार है कि हमको समुचित सुविधा अन्य सब चलने वालों से मिले, पर हम को सदा यह भय लगा रहता है कि हम पर कोई अपने मकान के ऊपर से कूड़ा फेंक देगा; कोई केले का छिलका इस तरह से फेंकेगा कि हम उस पर से फिसल कर गिर जायँगे; कोई साहब आगे से छाता इस तरह कंधे पर रख कर चलते होंगे कि हमारी आँखों में उसकी नोक चुभ जायगी। ऐसा ही भय हम से अन्य भाइयों को भी रहता है। मेरी तो दृढ़ भावना है कि

जो केले का छिलका सड़क पर फेंकता है या ठीक तरह से छाता लेकर नहीं चलता वह स्वराज्य के रास्ते में रोड़ा अटकाता है और स्वराज्य के आने में देर करता है। रेल पर चलने वालों का भी यही अनुभव है कि खिड़की के बाहर न थूक लोग डब्बे के भीतर थूकते हैं, खाने पीने के सकोरे-पत्तल बाहर न फेंक, भीतर ही छोड़ देते हैं, जिससे दूसरे मुसाफिरों को तकलीफ़ होती है। जगह रहते हुए रात को जो मुसाफ़िर गाड़ी में आते हैं वे व्यर्थ इतना शोर करते है, दरवाज़ा इतनी ज़ोर से खोलते और बंद करते हैं कि दूसरों को फ़िज़ूल ही तकलीफ़ होती है। यदि हम केवल यह छोटा सा उसूल सदा याद रखें कि हमें भी दूसरों के साथ वैसा ही बरताव करना चाहिये जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, तो हम ऐसी भूल न करेंगे जिसके कारण हम भरोसे के योग्य नहीं रह जाते।

अपने नागरिक कर्त्तव्यों को न पालन कर हम देश की उन्नति में बाधा डाल रहे हैं। इसका प्रभाव हमारे आपस के प्रतिदिन के संबंध पर भी पड़ता है। जब हम मोची, दर्ज़ी, धोबी आदि को कोई काम देते हैं तो हमें यह विश्वास नहीं रहता कि वह समय से काम कर देगा, न उसे विश्वास रहता है कि हम समय पर उसे दाम देंगे। इसी कारण परस्पर तकाजे पर तकाज़ा करते रहना पड़ता है। ऐसी दशा में समाज कैसे ठीक प्रकार चल सकता है। हालत यहाँ तक पहुँची है कि यदि आप किसी को भोजन का निमंत्रण दें, और उन्होंने उसे स्वीकार भी कर लिया हो तो न

आपको यह विश्वास रहता है कि वे आजाएँगे, न उन्हें यह विश्वास रहता है कि यदि जाएँगे तो भोजन मिल भी जायगा। जब समाज की यह दशा है, जब किसी भी काम के लिए हम किसी दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकते—तब क्या समाज का संघटन हो सकता है, क्या समाज की प्रगति संभव है? यदि हम वास्तविक कार्य-कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता पर ज़ोर दें, यदि हम हर श्रेणी, हर वर्ग, हर पेशे, हर उमर के लोगों को कार्य-कुशल बनना बतावें और सिखलावें, तो हमारे देश का रूप ही दूसरा हो जाय।

यदि हम अपने से चंद सवाल बीच-बीच में पूछें और जो उत्तर उन सवालों का हम दूसरों के लिए दें, वे ही अपने पर लागू करें, तो हमें सच्चे नागरिक बनने में देर न लगे—यदि मुझ से कोई वस्तु मँगनी ले जाय तो मैं यह चाहता हूँ या नहीं कि वह वापिस मिल जाय और उसी अच्छी हालत में जिस हालत में मैंने दी थी? यदि मुझ से किसी ने कोई वादा किया है तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि वह ठीक तरह से ठीक समय पर उसे पूरा करे? यदि मैं सड़क पर चलता हूँ, तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि किसी के फेंके हुए केले के छिलके से मैं न फिसल पड़ूँ, और यदि फिसल पड़ूँ तो कोई मेरी सहायता कर मुझे उठा दे और मेरी फिकर करे न कि मेरा उपहास? मैं चाहता हूँ या नहीं कि यदि मेरा बच्चा कहीं रास्ता भूल गया हो तो उसे कोई मेरे घर पर पहुँचा दे और उसे इधर-उधर भटकता न छोड़ दे? यदि मैं किसी सभा में जा रहा हूँ, तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि लोग इस प्रकार बैठे हों कि

मुझे भी भीतर जाकर बैठने की जगह हो और व्यर्थ एक तरफ भीड़ और एक तरफ कुर्सी खाली न हों ? यदि किसी के घर मेरा निमंत्रण है तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि मेरे पहले पहुँचने वाले लोगों ने जूता इस तरह उतारा हो कि मुझे भी अपने जूतों को रखने की जगह मिल जाय ? थोड़े में यदि हम सदा याद रखें कि जो हम दूसरों से अपने लिए चाहते हैं कि उनसे हमें आराम और आसायश मिले, वही दूसरे हमसे चाहते हैं, जिससे उन्हें भी आराम और आसायश मिले; और यदि हम उसी के अनुसार कार्य करें, तो हम सच्चे और अच्छे नागरिक फौरन बन सकते हैं, और चाहे हम कितने ही छोटे आदमी क्यों न हों, हम भी काफी हिस्सा देश के लिए सच्चा स्वराज्य प्राप्त करने में ले सकते हैं ।

देश की उन्नति इने-गिने बहुत बड़े-बड़े लोगों पर निर्भर नहीं रह सकती । देश की उन्नति, देश की प्रगति, देश का अभ्युदय, देश की स्वतंत्रता साधारण से साधारण व्यक्तियों के अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को ठीक तरह समझने पर ही निर्भर है । देश तो व्यक्तियों का है, व्यक्ति कुलों-कुटुंबों में बँधे हैं । कुटुंबों की हालत देखिए । क्या हम समय पर रोटी खाने पहुँच पाते हैं ? क्या हमारी माताएँ और स्त्रियों को रोटी लिये हुए घंटों रोज़ बैठे नहीं रहना पड़ता है ? क्या इस प्रकार से कुल का संगठन हो सकता है ? हमारा सारा व्यक्ति-गत, कुल-गत, समाजगत जीवन परस्पर के अविश्वास के कारण नष्ट-भ्रष्ट होगया है । इसको सँभालना अत्यावश्यक है । इसे यदि हम नहीं सँभालते तब हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ है ।

चंद लोग बड़े हो सकते हैं, नाम कमा सकते हैं, प्रशंसा करा सकते हैं, पर वे देश का उद्धार नहीं कर सकते, जब तक हम जन-साधारण अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं कर सकते। हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है, हमारी पाठशालाओं, विद्यालयों आदि पर जो कुछ व्यय किया जा रहा है वह सब व्यर्थ है, हम अक्षर-ज्ञान में जो अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह सब व्यर्थ है; जब तक हमें अपने साधारण नागरिक कर्त्तव्यों और अधिकारों की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपने को अपने लिए, अपने कुटुंब के लिए, अपने समाज के लिए यथासंभव अधिकतम उपयोगी बना सके और समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है। मेरी तो यही आशा है, यही अभिलाषा है, यही आकांक्षा है, मैं तो उस दिन की उत्कंठा से प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब हमारे देश में सच्चे नागरिकों, वास्तव में कार्यकुशल नर-नारियों की हर प्रकार के कार्य में इतनी बहुतायत होगी कि हम सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर उसे निबाह सकेंगे—उसे स्थापित रख सकेंगे और अपने देश में उसी प्रकार से आत्म-सम्मान-युक्त स्वतंत्रपुरुषोचित जीवन व्यतीत कर सकेंगे, जैसा अन्य देशों में आज भी स्त्री-पुरुष व्यतीत कर रहे हैं।

पृ० सं० २५० + ३२ = २८२